Damage Book

TIGHT BINDING BOOK

pages are missing

UNIVERSAL LIBRARY
OU_176392
UNIVERSAL LIBRARY

तुलसी

रामबहोरी शुक्ल

तुलसी

[महाकवि तुलसीदास की कृतियों का विवेचन]

लेखक

रामबहोरी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०, साहित्यरत्न

प्रोफेसर, गवर्नमेंट सेंट्रल पेडागॉजिकल इंस्टिट्यूट,

इलाहाबाद

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालन्धर और इलाहाबाद

१९४९] [मूल्य ३।)

प्रकाशक
हिन्दी-भवन
४९, टैगोर टाउन
इलाहाबाद

मुद्रक—
सङ्गमलाल जायसवाल,
संगम प्रेस, प्रयाग।

)smania University Library

Accession No.)

book should be returned on or before the date last
low.

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

४९, टैगोर टाउन

इलाहाबाद

मुद्रक—

सङ्गमलाल जायसवाल,

संगम प्रेस. प्रयाग।

जिन पितृ देव पण्डित शिवपालरामजी के
प्रसाद से मैं तुलसी की ओर अग्रसर हुआ
और जिन्होंने अपने जीवन में
अभय और निर्द्वन्द्व को प्रत्यक्ष
कर दिया था उनकी
पुण्य स्मृति में

भूमिका

जब मैं पाँच-छः वर्ष का बालक था तब की एक स्मृति अब तक स्पष्ट बनी है। राजापुर में अपने पूज्य पिताजी के साथ गोस्वामी तुलसीदासजी के मन्दिर में दर्शनार्थ जाया करता था। उन दिनों के मिट्टी के बने, खपरैल वाले कच्चे मन्दिर की झलक अब भी आँखों के सामने नाचती है। फिर चौथी कक्षा की परीक्षा में बैठने के उपरान्त दस वर्ष के वय में वहीं गोस्वामीजी के पुण्य करों के स्थापित सङ्कट मोचन को पहले पहल सम्पूर्ण 'मानस' का नवाह्निक पाठ सुनाना भी नहीं भूल पाया। आगे चलकर तो 'मानस' मेरी जीवन-यात्रा का एकमात्र सम्बल हुआ, जिसके सहारे मैं अब तक आँधी-पानी के बीच चलता आ रहा हूँ। 'मानस' के इस अविच्छिन्न सम्बन्ध से मैं गोस्वामीजी के निकट पहुँचकर अपने को 'कृतार्थ मानता हूँ और उनके 'मानस' तथा अन्य ग्रन्थों के अध्ययन में यथावकाश लगा रहता हूँ। न जाने कितनी बार यह विचार आया कि उनकी धवल कीर्ति गाथा अपनी श्याममुखी लेखनी से लिखकर उसको कृतकृत्य करूँ, किन्तु 'गृहकारज नाना जंजाला' इस मनोरथ की सिद्धि में सचमुच 'दुर्गम सैल बिसाला' सिद्ध हुए। जब राम-कृपा से इसकी पूर्ति का अवसर आया तब दूसरे व्यवधान तो होते ही रहे, बीच में शरीर भी असमर्थ हो गया। फिर भी किसी प्रकार जिस रूप में

यह काम सम्पन्न हो सका है उससे मन को तृप्ति न होते हुए भी सन्तोष हो रहा है। कारण, अपने परिचितों में दीर्घसूत्री कहे जाने वाले इस अकिञ्चन से जैसे तैसे कुछ तो हो गया। सम्भव है आगे कुछ और भी हो जाय।

यह मेरी गोस्वामीजी के विषय में कुछ लिखने की योजना का संक्षिप्त रूप है। इसमें उनके विविध महत्त्वपूर्ण कार्यों की कुछ रूपरेखा मात्र मिलेगी। यह उनके सिद्धान्त, आदर्श, विचार, कवित्व और महत्त्व के दिग्दर्शन का प्रयत्न है। उनके विषय में उपलब्ध रचनाओं के जो संस्कार मन में रह गये हैं उनका उपयोग तो मैंने किया ही है, अपने चिन्तन का परिणाम भी व्यक्त करने की चेष्टा की है। कह नहीं सकता कि मैं अपनी अभिव्यक्ति में सफल हो सका हूँ कि नहीं। फिर भी आशा करता हूँ कि इससे गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों के अध्ययन की प्रेरणा मिलेगी।

कार्त्तिक बदि ३. २००३ रामबहोरी शुक्ल

सूची

जीवन-चरित 1

आविर्भाव-काल, जन्म-काल, माता-पिता, पत्नी, गुरु, वर्ण, जन्म-स्थान, बाल्य-काल, देश-दर्शन, काशी-निवास, प्रेमी और भक्त, ख्याति और प्रतिष्ठा, विरोधियों की प्रतिक्रिया, कुछ महत्त्वपूर्ण घटनायें, जीवन यात्रा का अन्त, स्वभाव।

रचनाएँ 34

प्रस्तावना, ग्रन्थ

ग्रन्थ-परिचय 36

रामचरित मानस 40

कथानक, कथा के आधार, भाव-सादृश्य का कारण, प्रतिपाद्य, कथा की परम्परा, लक्ष्य, मानस के सभी पात्रों में राम-भक्ति की व्याप्ति, देवता, सिद्धान्त, ज्ञान और भक्ति का समन्वय, काव्य-सौष्ठव, प्रबन्ध-पटुता, चरित-चित्रण, भाव-प्रवणता, अलङ्कृति, उद्देश्य सिद्धि।

राम-विषयक अन्य काव्य 217

1. **कवितावली** 217

(परिचय, काव्य-सौष्ठव)

२. गीतावली २२६

परिचय, काव्य-सौष्ठव ।

३. रामलला नहछू २३५

परिचय, कवित्व ।

४. बरवै रामायण २३८

परिचय, कवित्व ।

५. जानकी मङ्गल २४२

परिचय, कवित्व ।

६. रामाज्ञा प्रश्न २४६

अन्य कृतियाँ २४९

१. वैराग्य संदीपिनी २४९

२. दोहावली २५१

इन काव्यों में कथा के नये प्रकरण—उनका औचित्य २५४

३. विनय-पत्रिका २५७

परिचय, विमर्श ।

४. पार्वती मङ्गल २६६

परिचय, काव्य-सौष्ठव ।

५. श्रीकृष्ण गीतावली २७०

परिचय, काव्य-सौष्ठव ।

गोस्वामीजी का महत्त्व २७५

जोवन-चरित

आविर्भाव-काल

भारतवर्ष में विदेशी मुसलमानों का प्रभुत्व जम चुका था। समूचे देश पर उनकी शासन-पताका फहराती थी। उस पताका के नीचे देश के सभी क्षेत्रों के हिन्दू राजाओं ने घुटने टेक दिये थे। बीच-बीच में जहाँ-तहाँ कुछ स्वाभिमानी वीर सिर उठाते, परन्तु अलग अलग, एक साथ मिलकर नहीं। इससे वे कर-धर तो कुछ न पाते, उलटे मुँह की खाते और कुछ दिनों के लिए अपने जैसे दूसरे स्वतंत्रचेताओं के लिए भी ऐसे ही प्रयत्नों का मार्ग रोक जाते। मुसलमान भारत पर अपना राज्य स्थापित करके ही चुप नहीं बैठे। उन्होंने इस्लाम का सिक्का जमाना भी अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। इस देश के निवासियों को इस्लाम धर्म का अनुयायी बनाना भी लक्ष्य स्थिर किया। यह काम उन्होंने दो प्रकार से किया। राज-शक्ति उनके हाथ में थी। उसके द्वारा उन्होंने यहाँ के लोगों को इस्लाम का अनुयायी बनने के लिए बाध्य किया। जिसने ऐसा न किया उसे तुरन्त तलवार के घाट उतार दिया। इस प्रकार आतङ्क जमाकर उन्होंने प्राणों के मोह में फँसे कायरों को अपने पूर्वजों का धर्म छोड़कर अपनी बढ़ती हुई शक्ति का सहायक और उनके ही रक्त-मांस के बने

सहधर्मियों का द्रोही बनाया। इस्लामी शरीयत के इस रूप ने भारतीय धर्म-परम्परा में प्रचलित मूर्ति-पूजा पर भी प्रहार किया। पवित्र तीर्थों में स्थापित भगवद्-विग्रहों को तोड़कर उनके मन्दिरों को मस्जिद बनाकर अधकचरे विश्वास वालों के लिए उपासना की इस पद्धति की असारता भी प्रदर्शित की। इस प्रकार गाजी बनने के लिए उत्सुक अनेक मुसलमान शासकों और उनके सेनापतियों ने सारे देश को अशान्ति की क्रीडास्थली बना दिया। एक ओर तलवार खुलकर नाच और भारत में इस्लाम की जड़ जमा रही थी। दूसरी ओर मानवता के दिखावे के भीतर छिपा हुआ इस्लाम हिन्दुओं के घरों में चुपके-चुपके घुस रहा था। भोली-भाली जनता मुसलमानी अत्याचार से त्रस्त थी ही। उसे सूफी दरवेशों के प्रेम-भरे उपदेश और गान बहुत अच्छे जान पड़ने लगे। उन्होंने वह काम किया जो इस्लाम के आक्रमणकारी रूप से पूर्णतया नहीं सध सका था। मूर्त्ति-भञ्जकों के पशुबल से उत्पीडित जनता के बीच हिन्दुओं का क्षात्रतेज प्रकट हुआ। राजपूताने के वीरों ने ही उन आततायियों से लोहा नहीं लिया, अपितु पञ्जाब के सिक्खों, महाराष्ट्र के जागीरदारों, दक्षिण के तेलुगू और कन्नड़ नायकों, मध्यभारत के गोंड सरदारों और बङ्गाल के भू-स्वामियों ने उनका सामना किया। उनकी बाढ़ रोकी। इससे साधारण जनता को बल मिला। इस्लाम उसे पूर्णरूप से अपने झण्डे के नीचे न ला सका। परन्तु वह सूफी फकीरों की चाल न समझ सकी। उनके भुलावे में फँस गयी। इन सूफियों में हमारे वेदान्त की झलक

दिखलाई पड़ती थी। इनमें कुछ उच्चकोटि के साधक और सचमुच उदार तथा धार्मिक कट्टरता से मुक्त साधु होते थे। उनके आचरण और उपदेश लोगों को अपनी ओर खींचते थे। उनका प्रभाव भी अच्छा पड़ता था। लोग उनकी बातों में धार्मिक द्वेष की गन्ध नहीं पाते थे। इससे उनकी बातें ध्यान से सुनते और उनकी रचनाओं को प्रेम से पढ़ते थे। उनमें इस्लामी सिद्धान्त भरे होते, परन्तु वे ऐसे ढङ्ग से छिपे रहते कि ऊपर से दिखलायी न पड़ते और धीरे-धीरे लोगों के विचारों पर घर करते जा रहे थे। इन्हीं प्रच्छन्न फकीरों में ऐसे लोग भी थे जिनका एकमात्र उद्देश्य था इस्लाम का प्रचार। वे अपने आडम्बरपूर्ण आचरण से मोहित कर लोगों को अपने वश में करते, उनकी अन्धभक्ति को बढ़ाते और उनको इस्लाम के विचारों से रँग देते। वे समझते तो रहते कि हम हिन्दू हैं, परन्तु पूजते वास्तव में कब्रों को, चलते इन साँइयों और दरवेशों के विचारों के अनुसार। उच्च वर्गों में इनकी दाल न गली, किन्तु निम्न श्रेणी के लोगों पर इनका जादू चल गया। वे नाममात्र के हिन्दू रह गये। इस प्रकार इस्लाम प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से रङ्ग लाने लगा।

उधर अपनी राजशक्ति के न रहने और विदेशी-सत्ता के प्रबल होने से हिन्दुओं में संस्कृत की शिक्षा का प्रसार कम हुआ। लुक-छिपकर कुछ लोग मन्दिरों में शास्त्र-चर्चा करते रहे, पर सामान्य जनता उससे दूर हटती गयी। जिन ब्राह्मणों ने ज्ञानार्जन और विद्यादान को अपने लिए एकमात्र व्यवसाय चुना

था वे निरक्षर होने लगे। आचरण-भ्रष्ट होने पर उनकी ओर लोगों की श्रद्धा कम हो चली। धर्म-ध्वजों के पतन के कारण दूसरों को सिर उठाने का अवसर मिला। कुछ आचारनिष्ठ, त्यागी और विद्याव्यसनी द्विज अवश्य पाये जाते, किन्तु उनका प्रभाव कम हो चला था। क्षत्रियों के हाथ से राजशक्ति छिन चुकी थी। कुछ नाममात्र के राजा रह गये थे। उन्होंने मुसलमानों की अधीनता ही नहीं, उनके प्रभाव को घरों में घुस आने दिया था। उन्होंने उनसे सामाजिक सम्बन्ध तक स्थापित कर लिया था। वैश्यों की मर्यादा भी भङ्ग हो गयी थी। शूद्रों ने भी इस सामाजिक विशृङ्खलता से लाभ उठाया। वे मनमाने व्यवसाय और काम करने लगे। इन सभी वर्णों में से बहुतों ने इस्लाम भी स्वीकार किया—भय और प्रलोभन दोनों के कारण। जो लोग ऊपर से तत्कालीन विदेशी विजेताओं के धर्म को मानने के लिए विवश हुए थे उनके घर और मन से उनके परम्परागत आचार, विचार और विश्वास पूर्ण रूप से निकल नहीं सके थे। उधर धर्म-परिवर्तन करने पर उन्हें अपना ही अङ्ग मानने वालों की भी कमी न थी। समाज के निम्न समझे जाने वाले वर्गों के प्रति उच्चवर्ग वालों की तिरस्कार भावना उन्हें उससे विमुख करने में सहायक हो रही थी। इन दोनों वर्गों—धर्म-भ्रष्ट और दलित-अस्पृश्य—के प्रति उदारता और सहानुभूति प्रदर्शन करने की आवश्यकता समझ कुछ धर्माचार्य प्राचीन रूढियों का बन्धन काट चुके थे। दक्षिण में रामानुजाचार्य ने चाण्डालों को अङ्गीकार कर लिया था। पूर्व में महाप्रभु चैतन्यदेव मुसलमानों को

वैष्णव बना चुके थे। उत्तर में आचार्य रामानन्द स्वामी मुसलमान, अन्त्यज आदि सब को राम-मन्त्र की दीक्षा दे गये थे। इन उदारचेता महानुभावों के व्यवहार ने समाज के नियमों की कठोरता रोकी, उन्हें कुछ ढीला किया। इससे समाज का निम्नस्तर अपने धर्म के प्रति विरक्त न हो सका। परन्तु प्राचीन विचारों और आचारों को धक्का अवश्य लगा। सदाचारनिष्ठ तथा कथनी और करनी में एक-से साधु-पुरुषों की बात जाने दीजिए। ऐसे लोगों की संख्या अधिक न थी। इनकी शिक्षा और इनके आचरण का अनुसरण करना सब के लिए सहज भी न था। इससे बहुतेरे धूर्तों और पाखण्डियों की बन आयी। वे साधु-वेश की आड़ में मनमाने ढंग के आचरण करके लोगों के मन में परम्परागत रहन-सहन, खान पान, आचार-व्यवहार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते और ऐसी बातें कहते जिनसे श्रुति-सम्मत धर्म और विश्वास की जड़ पर कुठाराघात होता। इससे सामाजिक व्यवस्था में उथल-पुथल मच गया। सामान्य जन अपने पूर्वजों के चलाये हुए धर्म के प्रति अविश्वास करने लगे। वे आध्यात्मिक तत्त्वों को सम्यक् रीति से समझे बिना ही उक्त वर्ग के धर्म-निरूपकों के द्वारा जो कुछ कहा जाता उसे ही ठीक समझते और पुरातन शास्त्रों के प्रवर्तित विचारों का तिरस्कार करते। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि समाज की विचार और आचार की स्थिति डाँवाडोल हो उठी।

एक ओर विदेशी राजशक्ति की प्रबलता ने भारतीय जन-समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया था, उसके झण्डे के पीछे पीछे

चलने वाले उसके धर्म ने उसे आक्रान्त कर रखा था, उसके धर्म के प्रच्छन्न आक्रमण ने मानव-प्रेम की मनोमोहक झाँकी दिखलाकर उसे मोहित करने का इन्द्रजाल बिछाया था और दूसरी ओर धर्म की इस नयी व्याख्या और निम्नस्तर को लुभाने वाले उसके इस रूप ने प्रतिष्ठित आदर्शों, विश्वासों और सिद्धान्तों पर प्रहार किया। इन चेष्टाओं का परिणाम समाज के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। जैसे इस देश की प्राचीन राज-सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए समय समय पर जितने भी प्रयत्न हुए वे व्यक्तिगत रहे, कभी सामूहिक नहीं हुए और देश का क्षात्रबल सङ्कटित होकर एक न हो सका, वैसे ही धार्मिक विश्वास और आचरण विषयक उक्त कार्यों ने समाज की एकता को नष्ट करके उसे छिन्न-भिन्न कर डाला। ब्राह्मणों ने त्याग और तप को अपनाया था, लौकिक सुखों से सदा के लिए मुँह मोड़ लिया था। इस प्रकार वे वेदों और शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में कालयापन करते और अपने परम्परागत ज्ञान की रक्षा करते थे। वे धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, यज्ञ-जप, श्राद्ध-तर्पण, कथा-वार्त्ता आदि के द्वारा उस संस्कृति की धारा में जीवनदान दिया करते थे। वे देश के सभी क्षेत्रों में स्थापित तीर्थों की यात्रा के लिए नियत समय पर निरन्तर होने वाले समारोह के द्वारा देश की एकता की रक्षा में तत्पर रहते थे। इस प्रकार जो लोग देश की विद्या, संस्कृति और एकता के मूल में युग युग से जीवन देकर उसे हराभरा रखते थे उन पर आक्षेप करके, उनकी हँसी उड़ाकर और उनकी अवहेलना करके समाज की

नींव खोदी जा रही थी। समाज उस नाव के समान हो रहा था जो किसी बढ़े हुए नद के बीच में पड़ गया हो, जिस पर चारों ओर से भयङ्कर आँधी के कारण उठने वाली उत्ताल तरङ्गों के थपेड़े लग रहे हों और ऊपर से बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी लगी हो।

ऐसी विषम परिस्थिति में तुलसीदास का अविर्भाव हुआ।

जन्म-काल

शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में उनका जन्म-संवत् १५८३ लिखा है और रामायण के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पण्डित रामगुलाम द्विवेदी ने संवत् १५८९। इन दोनों विद्वानों ने इन संवतों के विषय में कोई प्राचीन प्रमाण नहीं दिया। केवल जनश्रुति ही इस बात को मानने के लिए आधार होगी। हाथरस के सन्त तुलसी साहिब (संवत् १८२०—१९००) ने 'घट रामायण' में अपने को गोस्वामी जी का अवतार मानते हुए लिखा है कि मेरा पूर्वजन्म भाद्रपद शुक्ला ११, संवत् १५८९ में हुआ था। यह तिथि गणना से ठीक उतरती है। इधर वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं-चरित' का संक्षिप्त रूप 'मूल गोसाईं चरित' मिला है। ये वेणीमाधवदास गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य कहे जाते हैं। कहते हैं ये गोस्वामी जी के साथ बहुत दिनों तक रहे भी थे। 'मूल गोसाईं चरित' में उल्लिखित बातें परम्परा से प्रचलित जनश्रुतियों से मेल खाती हैं, उसमें दी हुई तिथियों में कुछ तो गणना से ठीक उतरती हैं, और कुछ ठीक नहीं उतरतीं और उसमें कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे उसकी प्राचीनता और प्रामा-

णिकता के विषय में कुछ विद्वानों का विश्वास नहीं। इस 'चरित' में लिखा है कि गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ में श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ था। 'रामचरित मानस' की 'मानस-मयङ्क' टीका के रचयिता वन्दन पाठक जी ने भी संवत् १५५४ को ही गोस्वामी जी का जन्म-काल माना था।

माता-पिता

गोस्वामीजी की माता का नाम 'हुलसी' प्रसिद्ध है। इसके प्रमाण में गोस्वामीजी के समकालीन और उनके स्नेही खान-खाना अब्दुर्रहीम का यह दोहा उपस्थित किया जाता है—

सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

और 'रामचरित-मानस' में भी एक ऐसा स्थल आया है जिसमें इस शब्द से गोस्वामी जी की जननी के नाम का ही सङ्केत मिलता है। कवि 'मानस' के प्रथम सोपान में राम-कथा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

रामहि प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

यहाँ हुलसी का अर्थ 'उत्साहित की', 'उमगाई' और 'उमड़ी' लिया जाय तो उसकी सङ्गति नहीं बैठेगी। इससे यही जान पड़ता है कि इसमें उन्होंने अपनी माता की ओर ही सङ्केत किया है।

गोस्वामी जी के पिता का नाम कोई परशुराम मिश्र कहते हैं और कोई आत्माराम दुबे। 'मानस' की 'सन्त मन उन्मनी' टीका के रचयिता श्री गुरुसहायलाल ने 'वृहद्रामायण महात्म्य'

के आधार पर अम्बादत्त नाम लिखा है। 'भविष्यपुराण' में 'अनप' को इन ऋषिकल्प महानुभाव को अपना पुत्र कहने का सौभाग्य मिला था।

पत्नी

कुछ लोग गोस्वामी जी के गृहस्थाश्रम की सङ्गिनी का नाम रत्नावली कहते हैं। उपर्युक्त 'सन्त मन उन्मनी' टीका में उनका नाम ममता लिखा है।

गुरु

परम्परा से नरहरिदास को गोस्वामी तुलसीदास का गुरु कहा जाता है। 'मानस' के प्रारम्भ में वन्दनात्मक एक सोरठा का पूर्वार्द्ध है—'बन्दउँ गुरु पद कञ्ज कृपासिन्धु नर रूप हरि'। इसमें प्रयुक्त पद 'नर रूप हरि' के सहारे 'नरहरि' से नरहरिदास नाम की पुष्टि होती है। भविष्य पुराण में उनके गुरु का नाम राघवानन्द दिया है।

वर्ण

गोस्वामीजी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे इसमें सन्देह नहीं। कुछ लोग उन्हें कान्यकुब्ज, कुछ सनाढ्य, परन्तु अधिकांश उन्हें सरयूपारीण मानते हैं। 'तुलसी-चरित' में वे गाना के मिश्र बतलाये गये हैं, परन्तु 'मूल गोसाईं चरित' में पाराशर गोत्री पत्यौजा के दुबे कहे गये हैं।

जन्म-स्थान

गोस्वामी जी कहाँ प्रकट हुए थे यह भी सर्व-सम्मत रूप में नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को

गोस्वामी जी का जन्मस्थान मानते हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है ऐसा कोई स्थान आजकल तो है नहीं। सम्भव है अँगरेज विद्वान् विल्सन और फ्रांसीसी पण्डित तासी भ्रमवश राजापुर को हाजीपुर लिख गये हों। राजापुर भी चित्रकूट से दस कोस पर है। महात्मा रूपकला जी तथा लाला सीताराम ने तारी में उनका जन्म लेना लिखा है। कहीं कहीं हस्तिनापुर को तुलसी क जन्म-स्थान बतलाया गया है। एटा जिले का सोरों भी उनका जन्म-स्थान कहलाता है। इसके प्रमाण में कुछ पुरानी जनश्रुतियाँ तो हैं ही. मानस के प्रथम सोपान का यह दोहार्द्ध भी रखा जाता है—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत ; परन्तु सूकर खेत से भाषा-विज्ञान के अनुसार 'सोरों' की निरुक्ति नहीं होती और जो इसके पक्ष में इधर कुछ दिन से क्रमशः प्रकाश में आने वाली रचनाएँ वहाँ से प्रकट हुई हैं उनकी प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध समझी जाती है। बाँदा प्रान्त के राजापुर गाँव को ही अधिकांश विद्वान् प्राचीन परम्परा और अन्य प्रमाणों के आधार पर तुलसीदास जी की जन्मपुरी मानते हैं।

बाल्य-काल

उपर्युक्त बातों से इतना स्पष्ट है कि वे मुगल बादशाह अकबर के समसामयिक थे। उनके माता, पिता और पत्नी के नाम निश्चयपूर्वक नहीं कहे जा सकते। और कई स्थान उनके अपनी गोद में अवतीर्ण होने का महत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि वे आजकल संयुक्त प्रदेश कहलाने वाले भरतखण्ड में उत्पन्न हुए थे। वे 'विनय पत्रिका' में कहते हैं—

यह भरतखण्ड समीप सुरसरि थल भलो सङ्गति भली।

और 'कवितावली' में उन्होंने लिखा है—

भलि भारतभूमि भले कुलजन्म समाज सरीर भलो लहि कै।

इससे यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि वे कुलीन थे। श्रेष्ठ समाज में उत्पन्न हुए थे। फलतः ब्राह्मण थे। भारत में गङ्गा-तट पर रहते थे। जिन ग्रन्थों से उक्त अवतरण लिये गये हैं उनका सम्बन्ध काशी से निश्चित है। इससे 'समीप सुरसरि' से काशी का ही तात्पर्य है, जहाँ वे अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बहुत काल तक रहे थे। इन निश्चित बातों के अतिरिक्त नाम-धाम के फेर में न पड़कर अब हम उनकी जीवन-चर्या की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करेंगे। इनका आधार कवि के ग्रन्थों में आये हुए कुछ उल्लेख, और तत्कालीन तथा परवर्ती अन्य कवियों और ग्रन्थकारों के एवं परम्परागत जनश्रुतियों के माननीय साक्ष्य होंगे।

कहा जाता है कि गोस्वामीजी का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था। इससे उनका मुँह देखने पर अपनी मृत्यु हो जाने के भय से पिता ने जन्म लेते ही उन्हें त्याग दिया। कवि ने 'कवितावली' में कहा है—

जायो कुल मङ्गन बधायो न बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उन्होंने बतलाया है कि 'मातु पिता जग जाइ तज्यो. विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई'। कुछ ऐसा ही उन्होंने 'विनयपत्रिका' में भी कहा है—'जननि जनक तज्यो

जनमि, करम बिनु बिधि हू सृज्यो अवडेरे' और 'तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू।' इन उक्तियों से कुछ लोग अभुक्त मूल में जन्म लेने और तुरन्त ही त्याग दिये जाने को उक्त लोक-प्रसिद्धि का समर्थन समझते हैं। परन्तु उद्धृत अवतरणों का अर्थ अभिधा के सहारे टटोलना युक्तियुक्त नहीं जंचता। जिस प्रसङ्ग में कहे गये उद्गारों से ये अंश लिये गये हैं उस पर ध्यान रखने से यह विदित होता है कि गोस्वामीजी यहाँ सांसारिक सम्बन्धियों में सर्व-श्रेष्ठ माता-पिता के द्वारा भी अन्त में त्यागे जाने और विधाता के द्वारा भाग्यहीन बनाये जाने पर भी राम के अनुग्रह से लोक-पूज्य होने की चर्चा करके राम की महिमा का गान करते हैं। इसी प्रकार, 'बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन, जानत हो चारि फल चारि ही चनक को' को प्रसङ्ग से हटाकर इस बात के प्रमाण के रूप में रखा जाता है कि माता-पिता से परित्यक्त बालक 'राम बोला' सच्ची आत्म-कहानी लिख गया है और वह इतना दरिद्र था कि मुट्ठी भर भी नहीं, चार चने—थोड़े से चने—पा जाने पर उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष समझ लेता था। वस्तुतः इसमें लोक में किसी भी आश्रयदाता के अभाव की ओर सङ्केत है। इसके आगे उन्होंने जो दृढ़ विश्वास व्यक्त किया है उससे उनकी स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं 'तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है, सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।' देखिए, जिस तुलसी के भाग्य में विधाता ने कोई अच्छी बात नहीं लिखी थी—'विधिहू न लिखी कछु भाल

भलाई'—उसी तुलसी को राम की कृपा ने ऐसा बना दिया कि उसके सौभाग्य को सुनकर विधाता को ईर्षा होती है और गणक (ज्योतिषी) सोच में पड़ जाते हैं कि कुण्डली देखने पर यह महा अभागा प्रकट होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

इन उल्लेखों से इतना ही समझना चाहिए कि तुलसीदास बाल्यकाल में ही घर से निकल पड़े थे। उन्हें साधुओं का सत्सङ्ग मिल गया। गुरु ने कृपा करके सूकर खेत में राम-कथा सुनायी—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।' एक तो वह राम-कथा बहुत ही गूढ थी, फिर मन पर कलि का प्रभाव था। वह अज्ञान था और बाल्यकाल था—'समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।' पर गुरु ने उसे बार-बार सुनाया—'तदपि कही गुर बारहि बारा।' इससे यह सूचित होता है कि गोस्वामीजी ने बाल्यावस्था में ही राम की भक्ति का मर्म गुरु से जान लिया था। वे निरन्तर राम-चर्चा में मग्न रहते। उनके मन में राम-रस चढ़ गया। वे राम-मय हो गये। साधना करते करते वे सारे संसार को राम-मय जानने लगे—'सीय-राम मय सब जग जानी।' इस प्रकार गुरु के द्वारा विविध शास्त्रों, पुराणों, रामायणों, काव्यों, नाटकों आदि में वर्णित राम चरित की चर्चा से राम-तत्त्व जानते हुए तुलसीदासजी उन्हीं के साथ रहने लगे। 'मूल गोसाईं चरित' की साखी है कि वे अपने गुरु के साथ काशी के पञ्चगङ्गा घाट में स्वामी रामानन्द के स्थान पर रहने लगे थे। वहीं शेष सनातन रहते थे। वे वेद-शास्त्र के मर्मज्ञ

विद्वान् थे। तुलसीदासजी ने उनसे वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, इतिहास, पुराण, काव्य-कला का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया। पन्द्रह वर्ष तक यह अध्ययन-क्रम चला। तुलसीदास राम-भक्त हो ही चुके थे। विद्या पढ़कर पारङ्गत पण्डित भी हो गये।

अपने दीक्षा गुरु के पास रहते हुए भी वे उनके समान वैरागी नहीं हुए थे। कारण, वैरागी हो जाने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की बात ही न उठती। परन्तु गोस्वामी जी ने वैवाहिक जीवन भी कुछ दिनों तक व्यतीत किया—इसमें सन्देह नहीं। 'कवितावली' में वे कह गये हैं—

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‌यो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं।

इससे इतना तो प्रकट है ही कि बाल्यकाल में राम की शरण ग्रहण करने के अनन्तर वे फिर लोक-रीति में पड़े थे। उसमें फँसकर वे अपने जीवन—ध्येय—राम-भजन से विमुख हो गये होंगे। प्रवाद तो यह है कि वे अपनी पत्नी में आसक्त थे। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता। कारण, उन्होंने उस प्रेम की अनुभूति न की होती तो वे आगे चलकर उससे हटकर राम-प्रेम में डूबे न होते। अस्तु; पत्नी का यह प्रेम-सम्बन्ध बहुत दिन तक न चला। एक दिन वह अपने मायके गयी। तुलसीदास उसका वियोग न सह सके। उसके पीछे पीछे ससुराल जा पहुँचे।

वहाँ उन्हें आया देख वह लज्जित हुई। उसके मुँह से निकल पड़ा—

लाज न लागत आपको, दौरे आयेहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि चर्म-मय देह मय, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति॥

पत्नी ने यह फटकार चाहे किसी विशेष विचार से न सुनाई हो, किन्तु तुलसीदास जी को बात लग गई। वे उलटे पाँव लौट पड़े। प्रयाग पहुँचकर उन्होंने वैरागी का बाना धारण किया। तुलसीदास के वैराग्य से उनकी पत्नी का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। भविष्य पुराण में 'कथित नारी शिक्षा समादाय' से इसका समर्थन होता है। प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में इसकी चर्चा विस्तार से की है। और सभी ग्रन्थकारों ने इसका समर्थन किया है—भले ही उनके लिखे ब्योरों में भेद हो। स्वयं कवि ने कहा है—'हम तौ चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।' आगे चलकर जान पड़ता है काशी में रहते समय कुछ लोगों ने उन पर ऊटपटाँग आरोप किये होंगे। तभी उन्होंने चिढ़कर 'विनय पत्रिका' में कहा था—'ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।' इससे भी उनके गृहस्थाश्रम से विरक्त होने की परम्परागत धारणा पुष्ट होती है।

देश-दर्शन—

वैराग्य लेने के पश्चात् तुलसीदास के मन में रामभक्ति के जो संस्कार लड़कपन में ही जम चुके थे वे फिर पल्लवित हुए।

वे अपने इष्टदेव राम की खोज में निकल पड़े। अपने प्रभु के लीलाधाम अयोध्या पहुँचे। कुछ दिनों तक वहाँ रहकर उन्होंने चारों धामों की यात्रा करने का निश्चय किया। जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् और द्वारावती होते हुए बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ से मानसरोवर गये। इस प्रकार उन्होंने परिव्राजक के रूप में समस्त भारतवर्ष का प्रत्यक्ष दर्शन किया। देश की दशा को अपनी आँखों से देखा। समाज की क्या दुर्दशा थी, जनता के धार्मिक विचारों में क्या अव्यवस्था थी, आर्थिक चिन्ताओं ने किस प्रकार लोगों को ग्रस रखा था और राजनीतिक आतङ्क ने देश की शक्ति को कैसे छिन्न-भिन्न कर दिया था—यह सब उन्होंने देखा। वे साधु थे। इससे वे तत्कालीन यवन राजाओं के प्रकट और गुप्त चरों की आँख बचाकर समाज के प्रत्येक वर्ग के भीतर घुसकर उसकी वास्तविक स्थिति से परिचित हुए।

इस प्रकार देश-दर्शन कर चुकने पर वे चित्रकूट में रहकर अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए साधन-रत हुए। नित्य राम-कथा कहते और राम-भक्ति का गूढ तत्त्व वहाँ के साधुओं और वन-वासियों को समझाते। कहते हैं यहीं उन्हें किसी प्रेत की सहायता से हनुमानजी के दर्शन हुए। वे कोढ़ी का रूप बनाकर नित्य उनकी राम-कथा के श्रोता हुआ करते थे। हनुमानजी की कृपा से भगवान् राम का साक्षात्कार हुआ। इस दोहे में इस भक्त और भगवान् के मिलन की कहानी अमर है—

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर॥

सम्भव है 'विनय पत्रिका' के इस उद्धरण में इसी अथवा ऐसी ही किसी अन्य घटना की ओर संकेत हो—

'तुलसी तोसों कृपालु जो किये कोसलपाल।
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो॥'

काशी-निवास

चित्रकूट में अपने प्रभु की झाँकी देखने के अनन्तर तुलसीदास जी फिर भ्रमण के लिए निकले। इस यात्रा में उन्होंने काशी, जनकपुर, नैमिषारण्य, अयोध्या, मलीहाबाद, बिठूर, वृन्दावन आदि स्थानों का दर्शन किया। उन्होंने उत्तर भारत की दशा फिर से देखी। इस परिभ्रमण में उन्हें धार्मिक क्षेत्रों की स्थिति पुनः देखने को मिली। यद्यपि तुलसीदास जी को चित्रकूट और अयोध्या अपने इष्टदेव के लीलाधाम होने के कारण अत्यन्त प्रिय थे तथा इन स्थानों में उन्होंने अधिक काल तक निवास भी किया था, तथापि उन्होंने जीवन का उत्तरार्द्ध काशी में ही व्यतीत किया। वहाँ वे कई स्थानों में रहे। हनुमान फाटक, गोपाल मन्दिर, प्रह्लाद घाट और सङ्कटमोचन उनके निवास-स्थान बतलाये जाते हैं। वे अन्तिम दिनों में अस्सीघाट पर रहते थे, जहाँ असी और गङ्गाजी का सङ्गम है। आजकल वह तुलसी-घाट कहलाता है। वहाँ गोस्वामी जी की स्थापित की हुई सङ्कटमोचन की मूर्ति आज भी विद्यमान है। उसी मन्दिर में गोस्वामी जी की गुफा है। उनकी खड़ाऊँ के अतिरिक्त काठ का एक टुकड़ा भी रखा है, जो उस नाव का अवशेष कहा जाता है जिस पर बैठ कर वे नित्य शौचादि से निवृत्त होने के लिए गङ्गा-

पार जाया करते थे। कहते हैं हनुमान फाटक उन्हें वहाँ के निवासी मुसलमानों के उपद्रव के कारण छोड़ना पड़ा था, गोपाल मन्दिर में उन्होंने विनयपत्रिका का कुछ अंश रचा था और अपने मित्र गङ्गाराम ज्योतिषी की सहायता से नगवा पर सङ्कट-मोचन हनुमान जी की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। वह वहाँ आज भी विद्यमान है। अस्सी में गोस्वामी जी की प्रवर्तित रामलीला अब तक प्रचलित है। इस प्रकार राजापुर में उनके जन्म-स्थान पर बने हुए स्मारक के अतिरिक्त चित्रकूट में उनके गुरु नरहरि दास का स्थान, अयोध्या का तुलसी-चौरा, जहाँ वे रहा करते थे और काशी के उक्त स्थान इस समय भी हमें अपने महात्मा कवि का स्मरण दिलाया करते हैं।

प्रेमी और भक्त

गोस्वामी जी ने देश भर का भ्रमण किया था। वे अनेक स्थानों में रह चुके थे। अपने आदर्श विचार और पुनीत आचरण के कारण वे उन सब लोगों के श्रद्धाभाजन बन गये होंगे जो उनके समीप आये होंगे। वे अद्वितीय विद्वान्, प्रतिभाशाली कवि और रामायण के असाधारण व्यास थे। इससे पण्डित ही उनकी विद्वत्ता के सामने सिर नहीं झुकाते थे, सामान्य जन भी उनका सत्सङ्ग करके अपने मन वचन और कर्म में उनका प्रभाव अनुभव करते रहे होंगे। गोस्वामी जी के जीवन वृत्तों में अनेक छोटे-बड़े लोगों की चर्चा आयी है, यहाँ स्थल-सङ्कोच के कारण उन सब का परिचय देना सम्भव नहीं। उनमें केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख किया जायगा। ऊपर लिखा जा चुका है

कि वे काशी में बहुत दिनों तक रहे। वहाँ उनके सम्बन्ध के प्रसिद्ध स्थानों का निर्देश भी हो चुका है। वहाँ के गङ्गाराम ज्योतिषी के लिए उन्होंने 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना की थी। कहते हैं संवत् १६५५ में उन्होंने उसकी जो प्रति लिखी थी वह बहुत दिनों तक ज्योतिषी जी के वंशजों के पास थी। अब भी उनके पास उनका चित्र है। काशी में उनके परम भक्त और सेवक टोडर रहते थे। वे भदैनी, नगवा आदि गाँवों के जमीन्दार भी थे। उनके देहावसान पर गोस्वामी जी ने उनके पुत्रों में बटवारा कराया था। उस बटवारे के पञ्चनामे का कुछ अंश उन्होंने ही लिखा था। वह संवत् १६६९ में लिखा गया था और काशिराज के संग्रहालय में सुरक्षित है। गोस्वामी जी ने नर-काव्य न करने का निश्चय किया था। केवल इन्हीं टोडर के लिए वे अपने इस व्रत में अटल नहीं रह सके। जान पड़ता है वे गोस्वामी जी के प्रेम-पात्र अपनी राम-भक्ति के कारण ही हुए थे। शिव की उपासना के प्रधान केन्द्र और अन्य सभी प्रकार की उपासनाओं और भक्ति-पद्धतियों के प्रमुख क्षेत्र काशीधाम में राम-भक्ति की दृढ़ स्थापना करने में टोडर गोस्वामी जी के कितने सहायक रहे होंगे यह नीचे लिखे दोहों से प्रकट होता है—

चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में, अथये टोडर-दीप॥
तुलसी राम सनेह को, सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतार॥

तुलसी उर-थाला बिमल, टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नैनन सींचिहौं, समुझि-समुझि अनुराग।।

टोडर के वंश के लोग अब तक श्रावण कृष्णा तीज को गोस्वामी जी की निधन-तिथि होने के कारण ब्राह्मण को सीधा दिया करते हैं। गोस्वामी जी टोडर को नहीं भूल सके थे और उनके वंशज भी अपने पूर्वज के पूज्य का त्याह नहीं भूल सके।

हिन्दी के विख्यात कवि और अकबर के प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष रहीम भी गोस्वामी जी के स्नेहियों में गिने जाते हैं। उन्होंने इस दोहे में कवि के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है—

सुरतिय नरतिय नागतिय अस चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय।।

किंवदन्ती है कि अजमेर से राजा मानसिंह भी उनके पास आया करते थे। राजापुर में आज भी जो भूमि, घाट की उतराई आदि की माफी गोस्वामी जी के शिष्य गणपति के वंशवाले भोग रहे हैं उसे परम्परा से माना जाता है कि अकबर ने स्वयं अर्पित किया था। इससे अकबर और उनकी भेंट का भी अनुमान होता है। आश्चर्य नहीं कि रहीम और मानसिंह के द्वारा प्रशंसित महात्मा के दर्शन के लिए साधु-सन्तों के प्रति श्रद्धालु अकबर ने राजापुर की यात्रा की हो।

गोस्वामी जी राम के अनन्य भक्त होते हुए भी कितने उदार विचारों के थे यह उनके रचे ग्रन्थों से प्रमाणित होता ही है और इस विषय में हम आगे विचार भी करेंगे। इसी से

वे अपने से भिन्न दार्शनिक विचार वालों से मिलते-जुलते रहे होंगे इसमें सन्देह नहीं। उन दिनों काशी में मधुसूदन सरस्वती रहते थे। वे शङ्कराचार्य के अनुयायी और उनके अद्वैत सिद्धान्त के परम श्रेष्ठ मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने तुलसीदास जी के सम्बन्ध में ये उद्‌गार प्रकट किये थे—

आनन्दकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसी तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने इसका यह रूपान्तर किया था—

तुलसी जङ्गम तरु लसै, आनँदकानन खेत।
कविता जाकी मञ्जरी, राम भ्रमर रस लेत॥

इसका आशय यह है कि (अन्यत्र तुलसी को स्थावर रूप में पाया जाता है, किन्तु यहाँ) आनन्दवन (काशी) में जङ्गम (चलता-फिरता) तुलसी-तरु है। कविता ही उस तुलसी-तरु की मञ्जरी है। उस पर राम-रूपी भ्रमर सदा गुंजार किया करता है। उसकी कविता से राम की ही मधुर गूँज उठा करती है। मधुसूदन सरस्वती जी ने अत्यन्त समीप से देखने पर ही ऐसा कहा होगा। इससे विदित होता है कि ये दोनों विद्वान महात्मा बहुधा सत्सङ्ग किया करते होंगे।

काशी के बाहर भी गोस्वामी जी के अगणित प्रेमी रहे होंगे। उनमें रामचन्द्रिका के कवि केशवदास का नाम लिया जाता है। उनको ही अपने 'भक्तमाल' का सुमेरु बनाने वाले नाभादास भी इस प्रसंग में भुलाये नहीं जा सकते। भक्तमाल में नाभादास

ने उनका जो संक्षिप्त परिचय दिया है उससे इतना तो स्पष्ट है कि तुलसीदास जी की रामभक्ति लोक प्रसिद्ध हो चुकी थी। देखिए, भक्तों के पारखी नाभा जी क्या कहते हैं—

त्रेता काव्य निबन्ध करी, सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उद्धरै, ब्रह्म हत्यादि परायन॥
अब भक्तनि सुख दैन, बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रसमत्त, रहत अहनिसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को, सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो॥

ख्याति और प्रतिष्ठा

कवि वाल्मीकि के अवतार माने जाते थे यह नाभा जी के साक्ष्य पर ही न मानिए। जान पड़ता है कवितावली में स्वयं वे इसका संकेत करते हैं—

रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप।
तुलसी से जग मानियत महा मुनी सो॥

ऊपर महात्माओं और विद्वानों के द्वारा तुलसीदास जी की प्रतिष्ठा का प्रमाण दिया जा चुका है। अब कुछ ऐसे उद्धरण दिये जायँगे जिनसे यह प्रकट होगा कि गोस्वामी जी को इस प्रतिष्ठा का क्या फल मिला था। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे बहुत ही साधारण स्थिति के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्हें जो यश और सम्मान मिला था वह सब उनकी समझ में राम-भक्त होने के नाते ही उपलब्ध हुआ था। 'दोहावली' में उन्होंने लिखा है—

घर घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पायँ।
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥

और,

माँगि मधुकरी खात ते, सोवत गोड़ पसारि।
पाय प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढ़ी रारि ॥

"कवितावली' में तो अनेक ऐसे छन्द हैं जिनमें कवि ने राम के महत्त्व और अनुग्रह का वर्णन करते हुए अपनी लोक-प्रतिष्ठा का भी उल्लेख किया है। यथा,

हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोई नाम गयन्द चढ़ायो।

तथा,

रावरी राम बड़ी लघुता, जस मेरो भयो सुख दायक हो को ॥

और,

राम को कहाइ, नाम बेचि बेचि खाइ, सेवा
संगति न जाइ पाछिले को उपखानु है।
तेहू तुलसी को लोग भलो भलो कहै, ताको
दूसरो न हेतु, एक नीके कै निदानु है।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि गोस्वामी तुलसीदास समाज में रामभक्त के रूप में बहुत ही विख्यात हो गये थे, लोग उनके दर्शन के लिए उत्सुक रहते थे और उनका अत्यधिक आदर करते थे। इस आदर और प्रतिष्ठा के कारण उनका मन कभी लोकैषणा के कारण भक्ति पथ से विचलित हो जाता होगा यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु वे इसको ऐसा समझते रहे होंगे यह 'कवितावली' के कुछ छन्दों से सूचित होता है।

तभी वे भक्ति-साधना में निरन्तर रहते हुए भी—जैसा, नाभादास ने 'राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी' कहा भी है—उससे सन्तुष्ट नहीं होते थे और सदा अतृप्त रहकर अपने आपको कोसा करते थे। कहते हैं—

'तुलसी गुसाईं भयो, भोंडे दिन भूलि गयो।'

अथवा,

तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सीलसिन्धु अपने सुभाय को।
नीच महि बीच पति पाइ भरुआइ गो,
बिहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
(कवितावली)

विरोधियों की प्रतिक्रिया

इस लोक-सम्मान के कारण कवि की ग्लानि का ठिकाना न था। वे समझते थे कि इससे भजन में बाधा पड़ती है। बहुत से लोगों में उनके गुण और कर्म देखकर उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा बढ़ रही थी। परन्तु कुछ ऐसे लोग भी थे जिनसे परायी विभूति फूटी आँख नहीं देखी जाती। और जो सदा 'बिन काज दाहिने बायें' रहा करते हैं। वे 'दोहावली' में कहते हैं—'रावनरिपु के दास तें कायर करहिं कुचालि।' जान पड़ता है उनकी उदार धार्मिक भावना के कारण बहुत से अनुदार कट्टरपन्थी उनकी निन्दा भी किया करते थे। उनके वैरागी वेश के कारण उनकी जाति के विषय में भी आक्षेप किया करते थे। सम्भव है इसी से उन्हें कहना पड़ा था—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न कोऊ॥

तथा,

मेरे जाति पाँति न चहौं की जाति पाँति।
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को॥
साधु कै असाधु कै भलौ कै पोच सोच कहा।
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को॥
(कवितावली)

जान पड़ता है कुछ क्षुद्र जन धर्मान्धतावश उनको तङ्ग भी किया करते थे। परन्तु वे इन बाधाओं से घबराने वाले जीव न थे। स्वयं कहते हैं—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे?
(कवितावली)

और,

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।
तुलसिदास रघुबीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै।
(विनयपत्रिका)

गोस्वामी जी ने राम-भक्ति का परिणाम माना था कि 'अभय होय जो तुमहि डेराई' और स्वयं राम से कहलाया था कि 'सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू।' फिर भला वे किसी यातना से कैसे भयभीत हो सकते थे? वे अपने निश्चित मार्ग पर अविचल रहे और निश्चय ही उनके विरोधी उनके शरणापन्न होंगे।

अपनी प्रतिष्ठा बढ़ने पर राम-भजन में बाधा पड़ती देखकर तुलसीदास जी की आत्म-भर्त्सना की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसी सम्बन्ध में उन्होंने 'कवितावली' के अन्तर्गत 'हनुमान बाहुक में 'तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो' लिखा है। इसके अतिरिक्त 'कवितावली' में अन्यत्र 'गोसाईं' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है—

'नाम के प्रताप बाप आजु लौं निबाही नीके,
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजानु है।'

और 'विनय पत्रिका' के नीचे उद्धृत अंश में 'गोसाईं' का यों प्रयोग किया है—

मेरे भले को गोसाईं पोच को न सोच संक
हौं किये कहौं सौंह साँची सीय पीय की।'

उक्त अवतरणों में प्रयुक्त 'गुसाईं' वा 'गोसाईं' का अर्थ कभी कभी दशनामी गोसाईं किया जाता है और अनुमान किया जाता है कि उन्होंने शङ्कराचार्य प्रवर्तित संन्यास की दीक्षा ले ली थी। डा० माता प्रसाद गुप्त ने काशी के 'लोलार्क कुण्ड' के किसी 'तुलसीदास मठ' की खोज की है और उक्त अनुमान के लिए तुलसीदास जी को उस मठ का 'गोसाईं' मान लिया है। दशनामी 'गोसाइयों' के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य भी उपाधि धारण करते हैं और कहीं कहीं गृहस्थों में भी गोसाईं उपाधि धारण करने की प्रथा है। तुलसीदास जी के जिन ग्रन्थों से उक्त उद्धरण लिये गये हैं उनमें पूरे प्रसङ्ग को देखने से यह सिद्ध नहीं होता वे राम की उपासना छोड़कर

दशनामी शैव हो गये थे। वस्तुतः वे आमरण रामोपासक रहे।

कुछ महत्त्व पूर्ण घटनाएँ

आज अँगरेजियत के प्रभाव से हिन्दू समाज में ईसाई धारणाओं ने घर कर लिया है फिर भी उसमें दैवी शक्ति पर अविचल विश्वास बना है। उन दिनों तो मुसलमानी प्रभाव अवश्य व्याप्त हो रहा था, किन्तु परम्परागत विश्वास समाज से उठे न थे। दैवी शक्तियों पर लोगों की आस्था थी। वे मानते थे कि साधु-महात्मा असाधारण और चमत्कार-पूर्ण काम कर सकते थे। इसी आधार पर अथवा सत्य ही गोस्वामी जी के जीवन-चरितों में बहुत सी अलौकिक घटनाओं का वर्णन है। उनमें से हनुमान जी के और रामचन्द्र जी के दर्शन के सम्बन्ध में चित्रकूट की घटना का उल्लेख हो चुका है। कहते हैं चित्रकूट में ही उन्हें हिरण के पीछे दौड़ते हुए धनुर्धर राम-लक्ष्मण के भी दर्शन हुये थे। सम्भव है 'गीतावली' के इन चरणों में इसी प्रत्यक्ष दर्शन का सङ्केत हो—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।'
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे।

तथा,

'खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।'

प्रसिद्ध है कि तुलसीदास जी से बादशाह ने कुछ चमत्कार दिखाने को कहा। उन्होंने कहा कि मैं राम को जानता हूँ, करामात नहीं। इस पर बादशाह ने उन्हें बन्दी कर लिया।

तुलसीदासजी ने हनुमानजी का स्मरण किया। बन्दी गृह को बन्दरों ने घेर लिया। उनके उत्पात से बादशाह व्याकुल हुआ। तुलसीदासजी ने किला बन्दरों के लिए छोड़ देने पर ही उनसे उद्धार का उपाय बतलाया। प्रियादास ने इस प्रकार इस घटना का वर्णन किया है। नागरीदास ने 'पर-प्रसङ्गमाला' में भी इसकी चर्चा की है, परन्तु कुछ हेर फेर के साथ। उन्होंने उक्त बादशाह का नाम जहाँगीर लिखा है। और उक्त वर्णन के अनुसार ही लिखा है कि उसने उनसे करामात दिखाने का अनुरोध किया। तुलसीदास ने ऐसा करने में असमर्थता प्रकट की। इस पर जहाँगीर ने उन्हें बन्दी कर लिया। तब अनीराय बडगूजर ने उनसे प्रार्थना कि महाराज, आप ऐसा करें जिससे हिन्दुओं का मार्ग न रुके और फिर कभी कोई किसी वैष्णव को न सतावे। यह सुनकर गोस्वामीजी ने हनुमान जी की स्तुति की—

तुमहिं न ऐसी चाहिये हनुमान हठीले।
साहिब सीताराम से तुमसे जु वसीले।
तुम्रे देखत सिंघ के सिसु मेंडुक लीले।
जानति हूँ कलि तेरेऊ मनु गुन गन कीले।
हाँक सुनत दसकन्ध के भये बन्धन ढीले।
सो बल गयो किधौं भये अब गरब गहीले।
सेवक को परद फटै तुम समरथ सी ले।
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले।

इसी समय अगणित बन्दरों ने किले को घेर लिया। बादशाह् तुलसी के पैरों पड़ा। उसने उन्हें मुक्त कर दिया। बादशाह ने गोस्वामी जी के कहने से 'सलेमगढ़' उन बन्दरों के लिए छोड़ दिया।

जीवन यात्रा का अन्त

इसी प्रकार गोस्वामीजी के कुछ अन्य अलौकिक कृत्यों का भी वर्णन किया जाता है। सम्भव है वे सत्य भी हों, अथवा केवल भक्तों के अन्धविश्वास के परिणाम हों। जो हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि तुलसीदासजी उच्चकोटि के महात्मा थे। वे सदा भगवद्भजन में लगे रहते थे। 'कवितावली' में कुछ ऐसे छन्द हैं जिनमें काशी में महामारी के प्रकोप का वर्णन है। उसी के अन्तर्गत 'हनुमान बाहुक' में ऐसे छन्द हैं जिनमें गोस्वामी जी की बाहु-पीडा और अन्य प्रकार की शारीरिक व्याधियों की चर्चा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे महामारी से आक्रान्त तो नहीं हुए, किन्तु सम्भव है बाहुक में वर्णित व्यथाओं के कारण ही उनका शरीर छूटा हो। परन्तु इसे अनुमान मात्र समझना चाहिए, प्रमाण कोटि में न लेना चाहिए। जीवन यात्रा की समाप्ति का जो भी कारण रहा हो, एक दिन वह काल आ पहुँचा अवश्य। कहा जाता है अन्त समय में तुलसीदासजी ने क्षेमकरी को देखकर यह सवैया कहा था—

कुङ्कुम रङ्ग सुअङ्ग जितो मुखचन्द सों चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गौरी कि गङ्ग बिहङ्गिनि बेष कि मञ्जुल मूरति मोदभरी है।
पेषु सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेमकरी है॥

और उनके अन्तिम बोल ये थे—

राम नाम जस बरनि कै भयो अहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये अबही तुलसी सोन॥

गोस्वामी जी की निधन-तिथि के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध चला आता है—

संबत सोरह से असी, असी गङ्ग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजे सरीर॥

'मूल गोसाइँ चरित' में यह दोहा इस रूप में मिलता है—

संबत सोलह से असी, असी गङ्ग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि, तुलसी तजे सरीर॥

गणना से यह दूसरी तिथि ठीक निकलती है। गोस्वामी जी के स्नेही टोडर के वंशज आज भी उनकी इसी निधन-तिथि को उनकी वर्षी मानते और उसके उपलक्ष में ब्राह्मण को सावन बदी तीज को सीधा दिया करते हैं। इससे भी जान पड़ता है कि श्रावण कृष्णा तृतीया संवत् १ ८० को ही राम नाम के अनुपम गायक तुलसीदास पाञ्चभौतिक शरीर त्याग कर अपने यश रूपी शरीर से अमर हुए थे।

स्वभाव

ऊपर गोस्वामी तुलसीदास के जीवन की कुछ झलक दिखलायी गयी है। उसके महत्त्व को समझने के लिए उनके स्वभाव की विशेषताओं को भी जान लेना चाहिए। यह तो लिखा ही जा चुका है कि वे बाल्यावस्था में साधुओं के साथ रहने लगे थे। वे सन्त वैष्णव थे। उनका रहन-सहन आडम्बर-विहीन था।

उनका स्वभाव सरल था। वे निरभिमान और सन्तोषी थे। सब से प्रेम करते थे। सदाचारी थे। भगवच्चर्चा में लगे रहते थे। ऐसे लोगों के बीच में रहकर बालक तुलसीदास के मन में सज्जनोचित आचरण के प्रति आकर्षण हुआ। उन्होंने स्वकथित भक्त के इस लक्षण को अपनाया।

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर-प्रेम प्रसूति ॥ (दोहावली)

उनके मन, वचन और कर्म में सरलता थी। अहंभाव उन्हें छू तक न गया था। आज इसमें तो सन्देह नहीं कि उनसे बढ़कर कोई दूसरा कवि हमारी भाषा में नहीं हुआ और संसार भर के कवियों के बीच अपनी कवित्त्व-शक्ति और लोक में प्रभाव के विचार से वे बहुत ही श्रेष्ठ माने जाते हैं। फिर भी जब वे कहते हैं कि 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावौं' तब उनकी नम्रता देखते ही बनती है। उनकी रचनाएँ उनके काव्य तत्त्वों की मर्मज्ञता की साक्षी हैं, किन्तु वे कहते यह हैं कि 'कबित बिबेक एक नहिं मोरे।' यह उनकी नम्रता नहीं तो और क्या है? 'कविता-वली' और 'विनयपत्रिका' में उनकी दीनता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अपने राम के सामने वे अपना कच्चा चिट्ठा सुनाते हैं। उससे उनकी दीनता की महानता प्रकट होती है।

वे अनन्य भक्त थे। अपने इष्टदेव को ही सर्वस्व मानते थे। रामचन्द्र जी पर उनका अटल विश्वास था।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥

वे राम को परात्पर ब्रह्म मानते थे। जो उनकी ईश्वरता पर सन्देह करता अथवा कराता उस पर वे आग-बबूला हो जाते। साधुवेशधारी पाखण्डियों को समाज-व्यवस्था को बिगाड़ने वाली बातें उन्हें अप्रिय थीं। वे उन्हें सह नहीं सकते थे। अलखिये की फटकार का नीचे लिखा दोहा उनकी इसी मनोवृत्ति का सूचक है—

हम लख हमहिं हमार लख, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै, राम राम जपु नीच ॥

वे राम के प्रेम के सामने किसी वस्तु को कुछ नहीं समझते थे। जो भी उसमें बाधक हो उसे त्यागने में वे तनिक भी आगा-पीछा करना उचित नहीं समझते थे—

जाके प्रिय न राम बैदेही,
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

वे समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करते थे। ब्राह्मण की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। उसे पूज्य मानते थे। शूद्र को सिर चढ़ाना उन्हें अप्रिय था। इस मर्यादा का पालन वे लोकहित के लिए आवश्यक समझते थे। किन्तु वे ब्राह्मण के पतन को देखकर क्षुब्ध भी होते थे। 'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी' उनकी सत्य-प्रियता का प्रमाण है। उन्हें जैसे ब्राह्मण का अपने विद्याध्ययन धर्म से गिरना बुरा लगता था वैसे ही शूद्र का व्यासगद्दी पर बैठकर पुराण बाँचना भी नहीं सुहाता था। दोनों का अपने अपने धर्म से भ्रष्ट होना समाज का पतन सूचित करता था। यह उन्हें इष्ट न था। इसी लिए

उन्होंने समाज-विरोधी सभी कार्यों की बड़ी कड़ी निन्दा की है। उनके प्राचीन व्यवस्था के समर्थन का यह अर्थ न लगाना चाहिए कि वे पुरानी बातों का आँख मूँदकर समर्थन किया करते थे। राम के सम्बन्ध से नीच वर्ण का व्यक्ति भी पूजनीय हो जाता है यह उन्होंने खुलकर कहा है। उनके 'रामचरित-मानस' में गुह, शबरी आदि के साथ वसिष्ठ, राम आदि के व्यवहार इस बात के द्योतक हैं कि निम्न श्रेणी के लोगों से उच्चवर्ण वालों को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। जो शूद्र दम्भ और अभिमान दिखाने पर फटकारा जाता है, वही विनय और सम्मान प्रदर्शित करने पर गले लगाया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वर्ण-धर्म की मर्यादा की रक्षा करते हुए भी गोस्वामी जी मानवोचित सद्‌गुणों और सदाचार से युक्त व्यक्तियों के लिए उदार व्यवहार के समर्थक हैं। गोस्वामी जी अत्यन्त नम्र थे। वे नम्रता से दुष्टों तक को जीतने का प्रयत्न करना ठीक समझते थे। वे निन्दकों की भी प्रशंसा करके उन्हें ठीक करना उचित मानते थे। परन्तु वे कायरता के कारण अथवा भय से ऐसा करना उचित नहीं समझते थे। वे निर्भय थे। कहते थे—

'जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै ?'

भगवान का भक्त किसी से नहीं डरता। दैवी-विभूति अभय उसको प्राप्त हो जाती है। इसी अभय से सम्पन्न होकर गोस्वामी जी ने अगणित बाधाओं और विपत्तियों का सामना करते हुए अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। यह उनकी दृढ़ता का भी प्रमाण है। इन सब गुणों के कारण ही वे इतने दिनों से ऋषितुल्य पुजते आ रहे हैं।

रचनाएँ

प्रस्तावना

गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ज्ञानी नहीं थे जो अपने आप विचार कर सब तत्त्व जान लेते थे और अपने पूर्ववर्ती विचारकों को तुच्छ समझकर स्वयं ज्ञान के एक मात्र ठेकेदार बन जाते थे। उन्होंने तो वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, पुराण, काव्य, इतिहास, नाटक आदि के अतिरिक्त काव्य शास्त्र का भी विधिवत् अध्ययन किया था। फिर उन्होंने मनन करके अपने लिए कर्तव्य और कार्य का क्षेत्र निश्चित किया था। तप और साधन के द्वारा अपने मन को विकार-रहित ही नहीं शुद्ध भी किया था। उसे अपने इष्ट के रङ्ग में रँग कर उससे एकाकार कर दिया था। इस प्रकार अध्ययन और गुरु की कृपा से प्राप्त प्रभु के रूप को आत्मानुभूति का विषय बनाने के उपरान्त ही उसका निरूपण किया।

वे समाज के उच्च वर्ण में अवश्य उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनका परिवार सम्पन्न न था। वे ब्राह्मण की भिक्षा वृत्ति अपनाने के लिए विवश हुए। इस प्रकार उन्हें समाज के सभी समुदायों के बीच जाने का अवसर मिला करता। उधर साधु-मण्डली में प्रविष्ट होने पर उन्हें विविध सम्प्रदायों के साधु-सन्तों के समुदाय की सच्ची स्थिति की जानकारी हुई। वे देश के एक ओर से दूसरे छोर तक पर्यटन करके उसकी सामाजिक, आर्थिक, राज-

नीतिक और धार्मिक दशा से परिचित हुए। उन्होंने मनुष्य का उत्थान तथा पतन देखा, और देखा भारत की प्रकृति का रम्य रूप। उन्होंने अपने जीवन में सभी प्रकार की स्थितियों का अनुभव किया। भिक्षा माँगने से लेकर राजाओं द्वारा प्रतिष्ठित होने और सामान्य साधु से लेकर महर्षि के समान पूज्य होने की दशा देखी। विविध वर्गों के लोग उनके निकट आये। बड़े-छोटे, पण्डित-मूर्ख, राव-रङ्क, साधु-गृहस्थ सभी उनको जीवन के विस्तृत रङ्गमञ्च की झाँकी दिखलाया करते।

इस प्रकार गुरु के धर्मोपदेश और उनके द्वारा उपलब्ध साहित्य और शास्त्र के ज्ञान, स्वाध्याय, मनन, पर्यटन और व्यापक अनुभव के पश्चात् गोस्वामीजी ने काव्य-रचना में हाथ लगाया। अपने प्राचीन वेद, पुराण, इतिहास आदि के अध्ययन के द्वारा उन्होंने काव्य का जो विषय चुना उसे चिन्तन के आधार पर भव्य रूप दिया। फिर यह देखा कि तत्कालीन समाज के लिए वह कैसे कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। तब उन्होंने अपना आदर्श प्रकट किया। उन्होंने काव्य की सार्थकता तभी मानी जब उसमें राम-चरित का गान हो। उन्होंने प्राकृत जन की विरुदावली बखानना निकृष्ट कवि कर्म माना। उनकी घोषणा है—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवायें, सो श्रम जाइ न कोटि उपायें।
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी, गावहि हरि जस कलिमलहारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।

गोस्वामीजी ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना जिसमें भगवान की कीर्ति गाथा का वर्णन हो। उनकी धारणा है कि ऐसा ही काव्य सज्जनों के हृदय का हार होता है। ऐसे काव्य की प्रशंसा सज्जनों के द्वारा होती है। उन्हीं के वचन सुनिए—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौं बरखै बर बारि बिचारू, होहि कबित मुकुतामनि चारू।

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि, राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।

अतएव तुलसीदासजी ने अपने इस आदर्श के पालन का व्रत लिया। उन्होंने रामचरित के कीर्तन में अपनी सारी जानकारी, अनुभूति और साधना लगा दी। उनके लिखे हुए काव्यों में ये प्रसिद्ध हैं—

ग्रन्थ

रामचरितमानस, गीतावली, विनय-पत्रिका, जानकी-मङ्गल, पार्वती-मङ्गल, रामलला नहछू, दोहावली, कवितावली (कवित्त रामायण, जिसमें हनुमान बाहुक भी सम्मिलित है), रामाज्ञा, वैराग्य सन्दीपिनी, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण। तुलसीदासजी के भक्तों में रामायण के व्यासों की परम्परा अब तक चली आ रही है। उन लोगों के बीच गोस्वामी जी के रचे यही द्वादश ग्रन्थ मान्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी काव्य हैं जो तुलसी-कृत कहे जाते हैं। उनके नाम ये हैं—हनुमान चालीसा, सङ्कट मोचन, तुलसी सतसई, कुण्डलिया रामायण,

छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण, छन्दावली रामायण, मङ्गल रामायण, मङ्गलावली, राममुक्तावली, रामलता, नामकला कोषमणि, ज्ञान कोष परिकरण, ज्ञानदीपिका और गीता भाष्य। इन ग्रन्थों में कुछ ऐसे हैं जिनकी शैली, शब्दावली, भाषा और विचारावली गोस्वामीजी के रचे हुए अन्य काव्यों से मेल खाती है, किन्तु बहुतेरे उनके सिद्धान्त और काव्य-रचना की पद्धति से अलग दिखलायी पड़ते हैं। इससे उचित तो यही प्रतीत होता है कि इन्हें मानस-कार की कृति न माना जाय। सम्भवतः ये किसी ऐसे व्यक्ति के बनाये हों जिसका भी नाम तुलसीदास हो रहा हो अथवा जिसने अपना नाम तुलसीदास रख लिया हो। 'रामचरित-मानस' के कुछ संस्करणों में ऐसी बहुत सी छोटी-बड़ी कथाएँ मिला दी गयी हैं जिनका गोस्वामीजी ने सङ्केत मात्र किया था। यहाँ तक कि लवकुश काण्ड, के नाम से एक नया काण्ड मूल ग्रन्थ को अपूर्ण समझ अथवा सामान्य पाठक वा श्रोता को अन्तर्कथा स्पष्ट करने के विचार से किसी कथावाचक व्यास ने अपनी ओर से उन कथाओं को गोस्वामीजी की ही शैली में रचकर यथा स्थान उन्हें रख दिया है। सम्भव है यह काम कई व्यक्तियों ने एक ही समय नहीं, भिन्न भिन्न समयों में किया हो। परन्तु इस प्रकार के क्षेपकों के रचयिता अथवा रचयिताओं ने कहीं भी अपना नाम नहीं दिया। हो सकता है कि अपने को छिपाकर वर्ण्य विषय का महत्त्व बढ़ाने के प्रयोजन से उन्होंने ऐसा किया हो। इसी प्रकार जान पड़ता है किसी वास्तविक तुलसी नाम के

अथवा इस उपनाम के अन्य कवि ने इन काव्यों की रचना की हो। ये मानसकार के ही बनाये हैं यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। इसलिए इन पर हम विचार ही न करेंगे।

सर्वमान्य द्वादश ग्रन्थों की ही चर्चा करेंगे और उनके आधार पर कवि की कला, विचार-पद्धति और महिमा के निरूपण का प्रयत्न करेंगे।

से प्रसूत होता है। उसकी कथावस्तु का निर्माण स्वयं कवि करता है।

गोस्वामी जी का 'रामचरितमानस' पहले प्रकार का काव्य है। उसका कथानक अत्यन्त प्राचीन है। वह सच्चा है। उसे अगणित कवियों ने संस्कृत के काव्यों, नाटकों आदि में विस्तारपूर्वक लिखा है। वह इस देश की वर्तमान सीमा को लाँघकर आज विदेश समझे जाने वाले, किन्तु पुराने वृहत्तर भारत भर में व्याप्त था। मलय, सुमात्रा, जावा, बाली, कम्बोडिया आदि के लोक-नाट्यों तक में वह आज भी सुरक्षित है। उसी पुरातन राम-कथा को लेकर तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना की। उन्होंने उसके प्रथम सोपान में ही मङ्गलाचरण के पश्चात् लिखा है कि

नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि,
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा-निबन्ध-मति-मञ्जुलमातनोति।

इस प्रकार अपने अन्तःकरण के सुख के लिए तुलसीदासजी ने अपनी मति के अनुसार भाषा में रामायण की रचना की। वह नाना पुराण, वेद, आगम सम्मत है। साथ ही उसमें कुछ अन्यत्र से उपलब्ध सामग्री भी है। प्रसिद्ध है कि व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्। व्यास पुराणों, महाभारत आदि में जो कुछ कह गये हैं उसके बाहर से कोई क्या कहेगा? परन्तु 'क्वचिदन्यतोपि' को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इसका तात्पर्य

यह लिया जाता है कि मानस में वेदों, पुराणों और आगमों के अतिरिक्त इतिहास, काव्य, चम्पू, नाटक आदि का उपयोग किया गया है। इनके साथ ही उसमें कवि की अनुभूति, साधना और कल्पना का भी हाथ है। गोस्वामीजी उक्त आधार भूत ग्रन्थों को दो प्रकार से काम में लाये हैं। मानस में प्रधान रूप से राम-कथा ही गायी गयी है, फिर भी उसकी कई आनुषङ्गिक कथाएँ भी हैं। ये सब उपर्युक्त ग्रन्थों से ही ली गयी हैं। इनका मूल उनमें कहीं न कहीं मिल जाता है। इन कथाओं के साथ ही कवि ने यत्र-तत्र अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से बहुत सी उक्तियाँ भी ग्रहण की हैं। कभी उन्होंने उनकी भाषा में रूपान्तर मात्र कर दिया है और कभी कुछ परिवतन करके उनमें चार चाँद लगा दिये हैं—उन्हें मूल की अपेक्षा कहीं सुन्दर बना दिया है।

मानस की मूल कथा के उद्गम की खोज में निकलकर उसका पूरा ब्योरा देने के लिए यहाँ स्थान की कमी बाधक हो रही है। उसे फिर कभी प्रस्तुत किया जायगा। अभी इतना जान लेना चाहिए कि उसमें आदि कवि वाल्मीकि की रामायण में वर्णित आख्यान मिलता है। यद्यपि मानस में कहीं-कहीं वाल्मीकि रामायण की कथा और उसके वर्णन के क्रम से भेद है फिर भी उसके मूल आख्यान में उससे कोई अन्तर नहीं है। कथा वस्तु में कोई विशेष मौलिक अन्तर न होते हुए भी दोनों ग्रन्थों के प्रतिपादित विषय का भेद ध्यान में रखना चाहिए। वाल्मीकि रामायण में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें रामचन्द्र को विष्णु का अवतार

कहा गया है। उदाहरणार्थ, बालकण्ड में ही वर्णन आया है कि ब्रह्मा आदि देवताओं ने विष्णु को लोक-कल्याण के लिए नियुक्त किया और उनसे अनुरोध किया कि आप अपने चार भाग करके दशरथ की तीन रानियों के पुत्र बनें और 'मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संजुगे' अर्थात् मनुष्य रूप धर कर रावण को मारें। तब देवताओं ने उन्हें रावण को ब्रह्मा के दिये हुए वरदान की कथा सुनायी।

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥

१६—१८

अर्थात् देवताओं की बात सुनकर स्वेच्छानुसार जन्म धारण करने की शक्ति रखने वाले विष्णु ने दशरथ को अपना पिता बनाने का निश्चय किया। इसके फल स्वरूप

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदं॥

१७—१

फिर सीता की अग्नि-परीक्षा के समय इन्द्रादि देवता राम के पास आये। उन्होंने उनको 'कर्ता सर्वस्य लोकस्य'' कह कर सम्बोधित किया। फिर ब्रह्मा ने उनका यों परिचय दिया—

भगवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेश्नचतुर्भुजः॥

शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ।

११७—१४, १५, १६ ।

अर्थात् आप चक्रधारी नारायणदेव, एकदन्त वाराह और भूत एवं भावी देव-शत्रुओं के विजेता हैं। आप अविनाशी, सत्य ब्रह्म हैं। आप सृष्टि के मध्य और अन्त में वर्तमान रहते हैं। लोकों के परम धर्म हैं। विष्वक्सेन हैं। चतुर्भुज हैं। शार्ङ्ग धनुष लेने वाले, हृषीकेश, पुरुष, पुरुषोत्तम, अजित, खड्गधारी विष्णु और अत्यन्त अधिक बलवान कृष्ण आप ही हैं।

इसी अवसर पर दशरथ ने भी कहा था कि

इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः ।
वधार्थं रावणस्येह पिहितं पुरुषोत्तमम् ॥

११९—१७ ।

अर्थात् हे सौम्य, आज मुझे देवताओं के द्वारा ज्ञात हुआ है कि तुम्हारे रूप में छिपकर विष्णु ने रावण के वध के लिए अवतार लिया है। इसी प्रकार युद्ध काण्ड के अन्तिम सर्ग में भी कहा गया है कि

प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः ।
आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ १२८—११७ ।

अर्थात् (इसके पठन और श्रवण से) रामचन्द्र प्रसन्न होते हैं, जो सनातन विष्णु, आदि देव, हरि और नारायण हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि वाल्मीकि ने वैदिक युग के आदर्श पुरुष का ही चरित लिखा है। उन्होंने महान मानव-

गुणों को सुन चुकने पर नारद मुनि से पूछा था कि इस समय इन सब से युक्त कौन सा पुरुष है। त्रिकालदर्शी नारद ने इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम को ही उन सब गुणों का आकर बतलाया और संक्षेप में उनका चरित्र सुनाया था। आर्यों के गुण, कर्म और आदर्श का परमोत्कृष्ट रूप राम में पाकर ऋषि ने उनका चरित्र चित्रित किया। इससे उनकी रामायण में राम की ईश्वरता के नहीं पूर्ण मानवता के दर्शन होते हैं। बात यह है कि वाल्मीकि के सामने राम को ईश्वरता के समर्थन की समस्या न थी। इसी से उन्होंने इतना तो सूचित कर दिया कि राम विष्णु के अवतार थे, किन्तु इसे बार-बार दोहराया नहीं। परन्तु तुलसीदास के समय में तो स्थिति ही दूसरी थी। इसी से उन्होंने परात्पर ब्रह्म राम की नर-लीलाओं का वर्णन किया और 'मानस' में उनकी ही भक्ति का प्रतिपादन किया है। उन्हें इस प्रकार की राम-भक्ति की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा 'अध्यात्म रामायण' से मिली। उसमें प्रतिष्ठित राम-भक्ति को लोक में स्थापित करना ही उनके 'मानस' का लक्ष्य हुआ। अतएव जहाँ नर-श्रेष्ठ राम की कथा कहना वाल्मीकि का उद्देश्य था, वहाँ तुलसी का उद्देश्य हुआ उनके ईश्वरत्व का प्रदर्शन करना।

रामचरितमानस के कथानक और उसके अभीष्ट उद्देश्य के सम्बन्ध में इन बातों को न भूलना चाहिए। उसकी कथा में यत्र तत्र ऐसे वर्णन मिलते हैं जो उक्त दोनों रामायणों में नहीं मिलते। उनकी प्रेरणा हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव आदि से ग्रहण

की गयी है। पुष्प-वाटिका में राम और जानकी का साक्षात्कार ऐसे मनोरम स्थलों में मुख्य है। इसके साथ ही कुछ मार्मिक प्रसङ्ग तो कवि की उद्भावना हैं। जब जनकपुर में राम-लक्ष्मण नगर-दर्शन के लिए गये थे तब उनकी अनुपम शोभा को देखकर नारियों का परस्पर वार्तालाप हुआ था। इसी प्रकार जब वन-पथ में ग्रामीण नारियों ने उन्हें देखा तब उनके उद्‌गार भी बहुत विस्तार के साथ वर्णित हुए हैं। ये हृदयहारी प्रसङ्ग कवि की देन हैं। इसी प्रकार मानस के आरम्भ की वन्दना, उसके मानस और सरयू के रूपक भी कवि की सृष्टि हैं। गोस्वामीजी ने विविध संवादों की अवतारणा करके जिस कथा-प्रबन्ध का निर्माण किया है वह भी उन्हें किसी दूसरे कवि से नहीं सूझा। अन्तिम सोपान के उत्तरार्द्ध का राम-भक्ति का प्रतिपादन भी उनकी ही सूझ है। ऐसे ही और भी अनेक प्रकरण हैं जिनका कथानक किसी अन्य रामायण, काव्य आदि में उस क्रम और ढङ्ग से नहीं मिलता जो 'मानस' में देखा जाता है। उक्त अन्यत्र कथित आख्यान, सिद्धान्त, विचार आदि गोस्वामीजी की नयी उद्भावना नहीं हैं, परन्तु इनकी अभिव्यक्ति उन्होंने मानस में अपने ढङ्ग से की है। इस प्रकार मानस की मूल कथा तथा आनुषङ्गिक कथाओं को गोस्वामी जी ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से ग्रहण किया है। इसी लिए उन्होंने उन सब मुनियों और कवियों को प्रणाम भी किया है जिनके द्वारा उन्हें राम चरित की परम्परा का परिचय प्राप्त हुआ था। वे कहते हैं—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई॥

ब्यास आदि कबि पुङ्गव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥
चरन कमल बन्दउँ तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे॥
कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने॥
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे॥

अतएव रिक्थ रूप में प्राप्त कथा की धारा को अविच्छिन्न रखते हुए भी कवि ने उसे अपने रङ्ग में रँग कर मौलिक प्रबन्ध बना दिया है।

गोस्वामीजी ने कथानक के अतिरिक्त अनेक वर्णनों और उक्तियों को भी पुराने ग्रन्थों से तद्वत् वा थोड़े बहुत हेर-फेर और सुधार के साथ ग्रहण किया है—कुछ तो राम-चरित सम्बन्धी काव्यों, नाटकों आदि से और कुछ पुराणों तथा अन्य काव्यों, नाटकों आदि से। थोड़े से उदाहरणों से यहाँ उनके अध्ययन के प्रसार का सङ्केत किया जायगा।

'मानस' में शिव ने पार्वती से भगवान का यह रूप बतलाया है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥

यह 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के इस अवतरण का भाषान्तर है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्चत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्।

'नारदोपनिषद्' में कलियुग में केशव के सङ्कीर्तन का फल यों लिखा है—

ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

इसको गोस्वामीजी ने इस रूप में अपनाया है—

कृत युग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भगवदावतार का प्रयोजन बतलाया है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।

यही बात शिवजी पार्वती से 'हरि अवतार' होने का हेतु बतलाते हुए यों कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जन्म कर हेतु ॥

गीता के अन्य अनेक श्लोकों को गोस्वामीजी ने भाषा का बाना धारण कराया है । उनमें कुछ आगे उद्धृत किये जाते हैं—

आत्मा के अमरत्व का प्रतिपादक प्रसिद्ध श्लोक है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

'मानस' में यह सिद्धान्त इस रूप में व्यक्त हुआ है—

जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान ।
जिमि नूतन पट पहिरि कै, नर परिहरै पुरान ॥

इसी प्रकार 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' को गोस्वामीजी ने कुछ बदलकर कहा है—

सम्भावित कहुँ अपजस लाहू, मरन कोटि सम दारुन दाहू ।

सन्त का यह रूप गोस्वामीजी को बहुत प्रिय है—

विषय अलम्पट सील गुनाकर, पर दुख दुख, सुख सुख देखे पर ।
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी, लोभामरष हरष भय त्यागी ।
कोमल चित दीनन पर दाया, मन क्रम वच मम भगति अमाया ।
सबहिं मान प्रद आपु अमानी, भरत प्रान सम मम ते प्रानी ।
बिगत काम मम नाम परायन, सान्ति बिरति बिनती मुदितायन ।
सीतलता सरलता मयत्री, द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री ।
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर, जानेहु तात सन्त सन्तत फुर ।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं, परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ।

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकञ्ज ।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मन्दिर सुख पुञ्ज ॥

राम के 'प्रान प्रिय' सज्जनों के इन लक्षणों को 'गीता' के नीचे लिखे श्लोकों में कहे गये कृष्ण के प्रिय भक्तों के गुणों से मिलाइए और देखिए दोनों एक ही हैं न—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

अब श्रीमद्भागवत के कुछ भावों से साम्य देखिए। ब्रह्मा द्वारा की गयी गर्भ-स्तुति का प्रसिद्ध श्लोक है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
—१०—२—३२—३३

इसे वेद-कृत स्तुति के रूप में 'मानस' में यों देखिए—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समराम हे॥

भव-सागर तरने का उपाय भागवत में यह बतलाया गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मायानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

यही 'मानस' में भी कहा गया है—

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो, सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।
जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ॥

व्यास ने मल्लशाला में जाते समय भगवान् श्रीकृष्ण की सर्व-व्यापकता दिखाई है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

इसी प्रकार जब श्रीराम धनुष-यज्ञ देखने पहुँचे तब उनका सर्वव्यापकत्व गोसाईंजी ने भी दिखाया है—

देखहि रूप महा रनधीरा, मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप बेषा, तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई, नरभूषन लोचन सुखदाई।
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥
बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा, बहु मुख कर पग लोचन सीसा।
जनक जाति अवलोकहिं कैसें, सजन सगे प्रिय लागहिं जैसें।
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी, सिसु सम प्रीति न जाति बखानी।
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा, सान्त सुद्ध सम सहज प्रकासा।

तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥७॥

निसि तम घन खद्योत बिराजा, जनु दम्भिन्ह कर मिला समाजा।

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥८॥

इसी प्रकार शरद्-वर्णन का सादृश्य भी देखने योग्य है—

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्विषाः ॥३५॥
गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥३८॥
शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः।
यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥३९॥

बिनु घन निर्मल सोह अकासा, हरिजन इव परिहरि सब आसा।
जल संकोच बिकल भईं मीना, अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना।
रस रस सूख सरित सर पानी, ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।

इन दोनों ग्रन्थों में कुछ और साम्य के स्थल हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

—१२—३—५१, ५२

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी, करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं, प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।

हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव इव सब सुखदाता।
एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ, तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ॥

ब्रज के गोपादिकों की यह इच्छा थी कि कर्मवश हम चाहे जिस योनि में जन्म लें, उस देह में हम प्यारे ब्रजमोहन को न भूलें—

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र कापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानैर्मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

यहाँ गोस्वामी जी बालि से कहलाते हैं—

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।
जेहि जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

अब गोस्वामीजी कृत वर्षा के प्रसिद्ध वर्णन का मूल आधार श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में देखिए—

बरषा काल मेघ नभ छाये, गरजत लागत परम सुहाये।

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जित नभस्तला॥ ३॥

लछिमन देखहु मोरगन. नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस बिष्णु भगत कहुँ देखि॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥ २०॥

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा।

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव॥ ६॥

दामिनि दमक न रह घन माहीं, खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ।। १७ ।।

बरषहिं जलद भूमि निअरायें, जथा नवहिं बुध बिद्या पायें।

व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्नाः भूतेभ्योऽथामृतं घनाः ।
यथाऽऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ।। २४ ।।

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन सन्त सह जैसे।

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ।। १५ ।।

क्षुद्र नदीं भरि चलीं तोराई, जस थोरेहुँ धन खल इतराई।

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ।।१०।।

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई, होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान ।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा ।।१४।।

हरित भूमि तृन सङ्कुल, समुझि परहिं नहिं पन्थ ।
जिमि पाखण्ड बाद तें, गुप्त होहिं सद ग्रन्थ ।।

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ।।१६।।

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई, बेद पढ़हि जनु बटु समुदाई।

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ।।६।।

ससि सम्पन्न सोह महि कैसी, उपकारी कै सम्पति जैसी।

द्वापर करि रघुपति पद पूजा, नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलिजुग केवल हरि गुनगाहा, गावत नर पावहिं भव थाहा।
बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
भारः परं पट्टकिरीट जुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दमः।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥

—२—३—२०,२१,२२

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना, श्रवन रन्ध्र अहि भवन समाना।
नयनन्हि सन्त दरस नहिं देखा, लोचन मोरपङ्ख सम लेखा।
ते सिर कटु तुम्बरि समतूला, जे न नमत हरि गुर पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी, जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करइ राम गुन गाना, जीह सो दादुर जीह समाना।
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलंगात्ररुहेषु हर्षः ॥

२—३—२४

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती, सुनि हरिचरित न जो हरषाती।

अब दूसरे ग्रन्थों के कुछ समता-सूचक अवतरण दिये जाते हैं—

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा।
चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः।
उत्तमादिविभेदेन स्मरतां पापहारिकाः ॥

स्वप्नेऽपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम् ।
नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा स प्रकीर्तिता ॥
या पितृभ्रातृसुतवत् परं पश्यति सद्धिया ।
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ॥
बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न ।
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वती ॥
पत्युः कुलस्य च भयाद् व्यभिचारं करोति न ।
पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वसूरिभिः ॥
क्लीवं वा दुःखस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव च ।
सुखितं दुःखितं वापि पतिमेकन्न लङ्घयेत् ॥

—शिवपुराण, पार्वती खण्ड

मातु पिता भ्राता हितकारी, मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ।
अमित दानि भर्ता बैदेही, अधम सो नारि जो सेव न तेही ।
जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं, बेद पुरान सन्त सब कहहीं ।
उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ।
मध्यम पर पति देखइ कैसें, भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई, सो निक्रिष्ट तिय श्रुति अस कहई ।
बिनु अवसर भय तें रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई ।
बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना, अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना ।

वाल्मीकीय रामायण में अनेक ऐसी उक्तियाँ हैं जिन्हें गोस्वामीजी ने अपनाया है। मारीच ने रावण से कहा था -

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ अरण्य० ३७—२

'मानस' में यही बात प्रहस्त ने रावण से यों कही थी—

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं, ऐसे नर निकाय जग अहहीं।
बचन परम प्रिय सुनत कठोरे, सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे।

मानस में सीता ने रावण से कहा था—

जिमि हरि बधुहि क्षुद्र सस चाहा, भएसि कालबस निसिचर नाहा।

वाल्मीकि रामायण में सीता की उक्ति यह है—

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्।

अरण्य०—४५—३७

सुग्रीव ने राम से कहा था कि मैं सीता का पता लगा दूँगा; परन्तु वह राज्य पाकर अपनी बात भूल गया। इस पर राम ने कुपित हो कर कहा था कि—

न स सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगा॥
एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम्॥

—कि०—३०—८१, ८२

मानस में राम की प्रतिज्ञा यों व्यक्त हुई है—

जेहि सायक मारा मैं बाली, तेहि सर हतौं मूढ कहँ काली।

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने जो प्रलाप किया था उसके वर्णन में भी गोस्वामीजी ने वाल्मीकि के भाव लिये हैं। दो-एक स्थल देखिए। राम ने प्रलाप में कहा था कि—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ, बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ।
मम हित लागि तजेउ पितु माता, सहेहु बिपिन हिम आतप बाता।
सो अनुराग कहाँ अब भाई, उठहु न सुनि मम बच बिकलाई।

वाल्मीकिजी ने इसे यों कहलाया है—

त्वं नित्यं सुविषण्णं मामाश्वासयसि लक्ष्मण।
गतासुर्नाद्य शक्तोऽसि मामार्तमभिभाषितुम्। युद्ध०—४९-१३

'मानस' में राम ने सहोदर को पत्नी आदि से अधिक महत्त्व देते हुए कहा था—

सुत बित नारि भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता, मिलै न जगत सहोदर भ्राता।

वाल्मीकीय रामायण में यह बात राम के द्वारा दो स्थलों पर इन रूपों में कही गयी है—

शक्या सीता समा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः। युद्ध०—४९-६

और

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥ युद्ध०—१०१-१४

'मानस' में राम ने लक्ष्मण के विना जीवित रहने से मर जाना श्रेयस्कर समझकर कहा था—

निज जननी के एक कुमारा, तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी, सब बिधि सुखद परम हित जानी।
उतरु काह दैहौं तेहि जाई, उठि किन मोहि सिखावहु भाई।

वाल्मीकिजी ने रामचन्द्रजी से इसी बात को यों कहलाया था—

किं नु राज्येन दुर्धर्ष लक्ष्मणेन विना मम ।
कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम् ॥

युद्ध०—१०१-१५

इसी प्रकार और भी अनेक अवतरण गोस्वामीजी और वाल्मीकिजी की उक्तियों का सादृश्य दिखलाने के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्थानाभाव से उनके उद्धरण का लोभ संवरण करना पड़ता है। अब कुछ अन्य प्राचीन कवियों के भावसाम्य के उदाहरण भी देखिए। तुलसीदासजी की बहुत ही प्रसिद्ध उक्ति है—'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।' यही बात नन्ददास ने भी इस रूप में कही है—'नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं जब।' 'देवी भागवत' में यही बात इस प्रकार कही गयी है—'या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।' इसी प्रकार पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' का उपयोग भी उन्होंने अपने ढङ्ग से किया है। पाणिनि ने बतलाया है श्वन् युवन् और मघवन् शब्दों को सम्प्रसारण होता है और उन के रूप सभी विभक्तियों में एक-से होते हैं, परन्तु गोस्वामी जी ने इन तीनों में एक-से गुण का आरोप कर दिया और कहा—'सरिस स्वान मघवान जुवानू' अर्थात् कुत्ता, इन्द्र और युवक समान रूप से आचरण करते हैं।

सुबेल शैल पर शिविर स्थापित करने के पश्चात् श्रीराम ने सायंकाल चन्द्रोदय देखकर अपने साथियों से उसके कलङ्क का मर्म उद्घाटन करने को कहा था। इस सम्बन्ध में कुछ उक्तियाँ प्राचीन कवियों की रचनाओं से मिलती-जुलती देखी जाती हैं।

यथा—

मारेहु राहु ससिहि कह कोई । उर महँ परी स्यामता सोई ।।

इसमें 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' के इस श्लोक की छाया है—

तरुण-तमाल-कोमलमलीमसमेतदयं
कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते ।
तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्त-पद-
व्रण-विवरोपदर्शितमिदं हि बिभाति नभः ।।

अर्थात् जो कहते हैं कि चन्द्रमा कोमल तरुण तमाल के समान इस कलंक को धारण किये है वह मिथ्या है, किन्तु हमारी समझ में दयारहित राहु के दाँत के छिद्र से यह आकाश दिखलाई पड़ता है।

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा, सार भाग ससि कर हर लीन्हा ।
छिद्र सों प्रगट इन्दु उर माहीं, तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं ।

इसमें इस श्लोक से साम्य है—

ब्रह्मणा रतिमुखं चिकीर्षता सङ्गृहीतममृतं विधोस्तदा ।
तेन छिद्रमभवद्यथा दृश्यते गगन बिम्बनीलता ।।

भाव-सादृश्य का कारण

स्थल-सङ्कोच के कारण अब हम अधिक मिलते-जुलते अवतरण न देंगे। उक्त उद्धरणों से विदित होता है कि गोस्वामी जी ने प्राचीन ग्रन्थों से बहुत सी उक्तियों के भाव ही नहीं शब्द तक अपना लिये थे। इसका क्या कारण है? उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को देखते हुए यह कहने

का साहस कौन करेगा कि उनको नये ढङ्ग से भाव व्यक्त करने की क्षमता नहीं थी और उन्होंने पुरानी उक्तियों का अनुवाद कर दिया है। कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदासजी का अध्ययन बहुत व्यापक था। उन्हें मेधा के साथ अपूर्व धारणा शक्ति भी प्राप्त हुई थी। उन्होंने जो कुछ पढ़ा था उसे अपना बना लिया था। इसी से उनकी रचनाओं में आपसे आप प्राचीन कवियों की बहुत सी उक्तियाँ ज्यों की त्यों आ गयी हैं। यह युक्ति बहुत कुछ ठीक जान पड़ती है। सम्भव है प्राचीन ग्रन्थों की बहुतसी उक्तियाँ चिर अभ्यास के कारण गोस्वामीजी के मन में बस गयी हों और वे उनका अनायास ही प्रयोग कर गये हों। उनका प्रयोग करते समय उन्हें यह खटका तक न हो कि मैं किसी अन्य कवि की शब्दावलि अपहरण कर रहा हूँ। जो लोग बहुत पढ़ा करते हैं और स्मरण रखने में समर्थ होते हैं उनकी वाणी और लेखनी से बहुधा दूसरों के विचार ही नहीं, वाक्य तक धारावाहिक रूप से निकला करते हैं। परन्तु हमारी समझ में गोस्वामीजी ने तो ऐसा जान-बूझकर किया है। उनकी रचनाओं में पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों से जो साम्य देखा जाता है वह उन्होंने जान-बूझकर किया है। इसका कारण था। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि जो योग की बातें मैं तुम्हें बतला रहा हूँ वे नयी नहीं हैं। मैंने कल्प के आदि में विवस्वान से कही थीं। विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को यही बातें बतलायी थीं। समय पाकर वे नष्ट हो गयी हैं। आज मैं फिर वही परम्परागत ज्ञान तुम्हें दूँगा। इसी से

गीता के ज्ञान को उपनिषदों का सार कहा जाता है। उसमें उपनिषदों के सिद्धान्त और उनके विचार ही नहीं, वाक्य तक मिलते हैं। फलस्वरूप गीता पढ़ते वा सुनते समय सदा यही ध्यान में रहता है कि हमारे सामने पुरातन ज्ञान की ही चर्चा हो रही है। इसी प्रकार रामचरित मानस में भी परम्परा से प्राप्त राम की कथा तो मिलती ही है, उसमें जो भाव, विचार और सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं वे भी प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार ही हैं। अतएव वे कभी नये नहीं लगते और हमारी पुरातन विचारधारा के अनुकूल ही ठहरते हैं। इतना ही नहीं, गोस्वामी जी ने प्राचीन उक्तियों को शब्दशः ग्रहण करके बड़ा काम भी किया है। समाज में अध्ययन-अध्यापन और कथा-वार्ता के द्वारा बहुत से आदर्श और धार्मिक सिद्धान्त इतने व्याप्त हो चुके थे कि विद्वान्, कम पढ़े और अपढ़ सभी वर्गों के लोग उनसे परिचित थे। आज भी बहुत कुछ वही दशा है। प्रत्येक विचार के साथ उसको व्यक्त करने वाली शब्दावलि का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है। जिन शब्दों में ये धार्मिक विचार और सिद्धान्त व्यक्त किये गये थे वे घर-घर में घर कर चुके थे। सभी उन्हें समझते थे। उनके द्वारा उन विचारों को सर्वमान्यता मिल चुकी थी। गोस्वामीजी ने अपने प्रतिपादित विचारों को सर्वमान्य बनाने के लिए ही उनको व्यक्त करने वाली वाक्यावलि को भी ग्रहण कर लिया है। इसी कारण मानस के पाठक के लिए उस में अभिव्यक्त मत गोस्वामीजी का व्यक्तिगत मत नहीं रह गया। वह भारतीय विचार परम्परा के अनुकूल

है। वह चिर-परिचित शब्दावलि में प्रकट किया गया है। इससे उसको तुरन्त मान लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती। अस्तु, जान तो यही पड़ता है कि गोस्वामीजी अपने ग्रन्थ के श्रोताओं और पाठकों के सामने उनके चिरपरिचित विचार उन्हीं शब्दों में व्यक्त किये थे जिनसे उनका चिरन्तन सम्बन्ध था और इसी से वे उन्हें इतने अधिक ग्राह्य और मान्य हुए हैं।

प्रतिपाद्य

कथा की परम्परा

राम-कथा के जितने ग्रन्थ हैं उनमें अधिकांश रामायण के नाम से प्रचलित हैं परन्तु तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थ का नाम 'रामचरितमानस' रखा। वे इस नाम-करण का कारण बतलाते हुए कहते हैं—

राम चरित मानस मुनि भावन, बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन, कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन।
रचि महेस निज मानस राखा, पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।
तातें रामचरित मानस बर, धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर।

तात्पर्य यह कि शम्भु ने इस मुनि-मन-भावन रामचरित रूपी मानस की रचना की है। रचने के अनन्तर उन्होंने इसे अपने मानस (हृदय) में सुरक्षित रखा। फिर सुअवसर आने पर पार्वतीजी से कहा। इसी अपने मानस के सम्बन्ध के कारण हर ने इसका नाम भी रामचरितमानस रख दिया।

इस प्रकार जो राम-कथा गोस्वामीजी ने 'मानस' में लिखी

है उसका निर्माण सबसे पहले शिवजी ने किया था। वे कथा की इस परम्परा के आदि आचार्य हैं। उन्होंने समय समय पर यह कथा कई व्यक्तियों को सुनायी थी। उन्होंने यह कथा कुम्भज ऋषि से सुनी थी—

एक बार त्रेता जुग माहीं, संभु गये कुम्भज रिषि पाहीं।
सङ्ग सती जग जननि भवानी, पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।
राम कथा मुनिबर्ज बखानी, सुनी महेस परम सुखु मानी।

राम-कथा सुनने के पश्चात् कुम्भज ऋषि के पूछने पर शिव ने उनको रामभक्ति का मर्म बतलाया—

रिषि पूछी हरि भगति सुहाई, कही संभु अधिकारी पाई।

वही कथा शिव ने लोमश मुनि से कही थी। लोमश ने स्वयं ही कागभुशुण्डि को बतलाया था कि

रामचरित सर गुप्त सुहावा, संभु प्रसाद तात मैं पावा।

फिर लोमश ने मानस की कथा कागभुशुण्डि को सुनायी। कागभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि जब मैंने ऋषि के दिये हुए शाप को निर्भय होकर स्वीकार कर लिया और तदनुसार काग का शरीर पा लिया तब

ऋषि मम महत सीलता देखी, राम चरन बिस्वास बिसेखी।
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई, सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई।
मम परितोष बिबिध बिध कीन्हा, हरषित राममन्त्र तब दीन्हा।
मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा, रामचरित मानस तब भाषा।

जो रामचरित कागभुशुण्डि ने लोमश से सुना उसे उन्होंने भगवान शिव से भी प्राप्त किया था। गोस्वामीजी कहते हैं—

सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा ॥

काग भुशुण्डि से यह कथा याज्ञवल्क्य ने सुनी, जैसा कवि ने लिखा है—तेहि सन जागबलिक पुनि पावा।

इस प्रकार रामचरित की परम्परा का निर्देश कवि ने 'मानस' के विविध स्थलों पर किया है। इसी कथा को प्रबन्ध के रूप में बनाकर कवि ने अपने ढङ्ग से कहा है। उन्होंने लिखा है कि

जागबलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई।
करिहउँ सोइ संबाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी।
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा, बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा, रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा, तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषा बद्ध करब मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।

इस प्रकार—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कबि तुलसी।
करइ मनोहर मति अनुहारी, सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानस की कथा में चार वक्ता और चार श्रोता हैं। जो कथा शिव ने पार्वती को और काग-भुशुण्डि ने गरुड को सुनायी थी वही याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कही। उसी कथा को अपने गुरु से बार-बार सुनकर, अपनी

मति के अनुसार कवि तुलसी ने 'सज्जनों' अथवा 'सुजनों' से कहा। अतएव मानस में कथा के ये चार वक्ता और श्रोता निरन्तर मिलते हैं। इनके संवाद एक-दूसरे में इस प्रकार मिल गये हैं कि कभी कभी उन्हें अलग अलग समझ सकना सहज नहीं होता। कवि ने ग्रन्थारम्भ में 'मानस' को 'मानस सर' मानकर बड़ा ही विशद साङ्ग रूपक बाँधा है। उसमें इन चारों संवादों को मानस-सर के चार घाट मानते हुए लिखा है कि

सुठि सुन्दर संवाद बर, बिरचे बुद्धि विचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥

इन चारों संवादों में श्रोताओं के मन को स्थिति प्रायः एक सी थी। आइए उसे जान लें। पहले हम गरुड को लेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि

गरुड महा ग्यानी गुन रासी, हरि सेवक अति निकट निवासी।

अर्थात् गरुड विष्णु के प्रमुख पार्षद थे। वे सदा उनके निकट रहते थे। अत्यन्त ज्ञानी और गुणराशि भी थे। फिर भी एक बार उन्हें भी अज्ञान ने घेर लिया। जो कुछ हुआ उसे शिव ने पार्वती जी से इस प्रकार बतलाया—

जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीडा, समुझत चरित होति मोहि ब्रीडा।
इन्द्रजीत कर आपु बँधायो. तब नारद मुनि गरुड पठायो।
बन्धन काटि गयो उरगादा, उपजा हृदय प्रचण्ड बिषादा।
प्रभु बन्धन समुझत बहु भाँती, करत बिचार उरगआराती।
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा, माया मोह पार परमीसा।
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।

भव बन्धन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम ।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम ॥
नाना भाँति मनहिं समुझावा । प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा ॥

बात ठीक सी लगती है। गरुड ने सुन रखा था मायानाथ परमेश ब्रह्म राम के रूप प्रकट हुए हैं, परन्तु उन्होंने जाकर देखा कि मेघनाद ने उन्हें आसुरी माया के नागपाश में बाँध रखा है और वे उससे छुटकारा पाने में स्वयं असमर्थ हो रहे हैं। इस प्रकार ईश्वरी शक्ति का अभाव देखकर गरुड को भ्रम हो गया कि राम भगवान नहीं हो सकते। वह इसी सन्देह को मिटाने के लिए कागभुशुण्डि के पास पहुँचे।

इसी प्रकार पार्वती को सती शरीर में मोह हो गया था। एक बार वे शिव के साथ कुम्भज ऋषि के आश्रम से लौट रही थीं। उस समय राम का अवतार हो चुका था। संयोग वश जिस समय सीता का अपहरण हो जाने पर राम विरही के समान विलाप करते हुए उनको ढूंढ रहे थे उसी समय शिव ने उन्हें देखा। कुसमय जानकर शिव ने उनसे परिचय न खोला। केवल 'जय सच्चिदानन्द जगपावन' कह कर अभिवादन किया और अपना मार्ग लिया। उनके आनन्द का ठिकाना न था। उधर सती के मन में उथल पुथल मच गयी। वे सोचने लगीं—

संकरु जगतबंद्य जगदीसा, सुर नर मुनि सब नावत सीसा।
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा, कहि सच्चिदानन्द परधामा।
भये मगन छबि तासु बिलोकी, अजहुँ प्रीति उर रहत न रोकी।

यह देख कर सती सोचने लगीं कि

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥

और

बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी, सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी, ग्यानधाम श्रीपति असुरारी।
संभुगिरा पुनि मृषा न होई, सिव सर्बग्य जान सबु कोई।

सती की उलझन यह थी कि अज, अकल, अनीह और अभेद ब्रह्म क्या नर-देह धारण कर सकता है? फिर यदि विष्णु ने अवतार लिया है तो वे भी शंकर के समान ही सर्वज्ञ हैं, अजान की भाँति अपनी नारी को क्यों ढूँढ रहे हैं? और शिव सर्वज्ञ हैं, उनकी बात झूठ नहीं हो सकती। सती ने शिव से अपनी यह चिन्ता कह सुनायी। उन्होंने समझाया कि

मुनि धीर जोगी सिद्ध सन्तत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगतहित निजतन्त्र नित रघुकुल मनी॥

सती को प्रबोध न हुआ। अन्त में उन्होंने राम की परीक्षा ली। उनका अलौकिक प्रभाव देखकर वे सहम गयीं। उस परीक्षा के समय उन्होंने सीता का रूप धारण कर लिया था। इससे राम के भक्त-शिरोमणि शिव ने उन्हें त्याग दिया। ग्लानि से ऊब कर सती ने अपने पिता के यज्ञ में प्राण त्यागे। फिर हिमाचल के घर पार्वती रूप में जन्म लिया। उस शरीर से उन्होंने फिर शिव को पति रूप में प्राप्त किया। एक दिन उन्हें अपने

पूर्वजन्म की घटनाएँ स्मरण आयीं। वे शिव के पास जाकर बोलीं—

जौं मोपर प्रसन्न सुख रासी, जानिय सत्य मोहि निज दासी।
तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना, कहि रघुनाथ कथा विधि नाना।
प्रभु जे मुनि परमारथवादी. कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।
सेस सारदा वेद पुराना. सकल करहिं रघुपति गुन गाना।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती. सादर जपहु अनँगआराती।
रामु सो अवधनृपति सुत सोई. की अज अगुन अलख गति कोई।

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

जौं अनीह व्यापक विभु कोऊ, कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ।

राम के वास्तविक रूप के सम्बन्ध में गरुड और पार्वती को जो भ्रम था वही भरद्वाज को भी था। एक बार उन्होंने परम विवेकी याज्ञवल्क्य से कहा कि हे नाथ, वेदों का तत्त्व आपकी मुट्ठी में है। मेरे मन में सन्देह ने घर कर लिया है। उसे कहते हुए बड़ी झिझक होती है। फिर भी गुरु से दुराव करने पर विवेक नहीं हो सकता। इससे मैं अपना मोह आप से प्रकट करता हूँ। उसे दूर करने की कृपा कीजिए। भरद्वाजजी ने अपना मोह इस प्रकार प्रकट किया—

राम नाम कर अमित प्रभावा, सन्त पुरान उपनिषद गावा।
सन्तत जपत संभु अबिनासी, सिव भगवान ग्यान गुनरासी॥
राम कवन प्रभु पूछउँ तोही, कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही।

फिर राम के सम्बन्ध में जो स्थिति थी उसको भरद्वाजजी ने यों बतलाया—

एक राम अवधेसु कुमारा, तिन्ह कर चरित बिदित संसारा।
नारि बिरह दुख लहेउ अपारा, भयउ रोष रन रावन मारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्बग्य तुम्ह, कहहु बिबेक बिचारि॥

गरुड, पार्वती तथा भरद्वाज के आख्यान देकर राम के प्रति जिस भ्रम की चर्चा ऊपर की गयी है वही तत्कालीन समाज में में फैला हुआ था। उसी को दूर करने के लिए गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' की रचना की। उन्होंने सज्जनों को इस कथा का श्रोता बनाया। कथा समाप्त होने पर शिवजी से कहला भी दिया कि

राम कथा के तेइ अधिकारी, जिन्हकें सत सङ्गति अति प्यारी,

इन सज्जन श्रोताओं को लक्ष्य करके वास्तव में लोक के हित के लिए ही राम-कथा कही गयी है। यह प्रत्येक वक्ता ने अपने श्रोता से स्पष्ट कह दिया है। कागभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि

तुम्हहिं न संसय मोह न माया, मो पर नाथ कीन्ह तुम दाया।
पठइ मोह मिस खगपति तोही, रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही।

इस प्रकार कागभुशुण्डि ने सच्चे भक्त के शील का प्रदर्शन करते हुए गरुड का मोह दूर किया था।

याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से भी कुछ ऐसा ही कहा था। गोस्वामीजी कहते हैं —

जागबलिक बोले मुसुकाई, तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई।
रामभगत तुम मन क्रम बानी, चतुराई तुम्हारि मैं जानी।
चाहहु सुनै राम गुन गूढा, कीन्हिउ प्रस्न मनहुँ अति मूढा।

वे जानते थे कि भरद्वाज अज्ञान बनकर राम-कथा सुनना चाहते हैं। परन्तु शिवजी ने पार्वती जी से जो कुछ कहा उससे कवि का लक्ष्य खुल जाता है। उन्होंने कहा कि

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी, तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी।
पूँछेउ रघुपति कथा प्रसङ्गा, सकल लोक जग पावनि गङ्गा।
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी, कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी।
राम कृपा तें पारबति, सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह सन्देह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं॥
तदपि असंका कीन्हिहु सोई, कहत सुनत सब कर हित होई।

अभिप्राय यह कि शिवजी जानते थे कि पार्वती के मन में राम विषयक किसी प्रकार मोह, सन्देह वा भ्रम नहीं है। फिर भी उन्होंने कहा कि तुम्हारा प्रश्न जगत के हित के लिए है और इसके उत्तर में जो कुछ कहा-सुना जायगा उससे सब का हित होगा।

लक्ष्य

इसी लोक-हित के लिए गोस्वामीजी ने सुजनों को यह कथा सुनायी थी है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने राम के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन ही अपने महाकाव्य का लक्ष्य बनाया। जिस समय मोह से व्याकुल हो गरुड राम का रहस्य जानने के लिए पहले नारद और फिर ब्रह्मा के पास होते हुए शिव के पास

पहुँचे उस समय वे कुबेर से मिलने जा रहे थे। गरुड ने उनसे अपना सन्देह कह सुनाया। इस पर उन्होंने कहा कि

मिलेहु गरुड मारग महँ मोही, कवन भाँति समुझावौं तोही।
तबहि होइ सब संसय भंगा, जब बहु काल करिय सतसंगा।
सुनिअ तहाँ हरि कथा सुहाई, नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

कागभुशुण्डि ने गरुड को जो रामचरित सुनाया था वही तो गोस्वामी जी ने वर्णन किया है। उसमें भी वही राम का पूर्ण ब्रह्मत्व प्रतिपादित हुआ है जो भुशुण्डि ने गरुड से प्रतिपादित किया है। प्रथम सोपान के आरम्भ में कवि ने जो श्लोक लिखे हैं, उनमें छठा यह है—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

इसका अर्थ है—मैं सम्पूर्ण कारणों से परे उन राम नाम वाले हरि की वन्दना करता हूँ जिनकी माया के वश में सारा संसार, ब्रह्मा इत्यादि देवता और असुर हैं, जिनकी सत्ता के कारण यह नाशवान् जगत् (भ्रमवश) अविनाशी-सा दिखलायी पड़ता है, जैसे रस्सी सर्प जान पड़ती है और जिनके चरण भवसागर पार करने के इच्छुक लोगों के लिए नाव हैं।

इस श्लोक में मायापति राम को अखिल विश्व का कारण

माना गया है। यही तुलसी के राम हैं। इन्हीं के रूप को स्पष्ट-तथा अङ्कित करना उनका उद्देश्य था। यही बात शिव ने पार्वती से भी खुलकर कही थी। गोस्वामी जी लिखते हैं—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा, नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।
सहज प्रकास रूप भगवाना, नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।
हरष बिषाद ग्यान अग्याना, जीव धर्म अहमिति अभिमाना।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना, परमानन्द परेस पुराना।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥

× × × ×

सब कर परम प्रकासक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू, मायाधास ग्यान गुन धामू।

इसी प्रकरण में शिव ने और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि—

आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु करइ करम बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।
असि सब भाँति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥
कासी मरत जन्तु अवलोकी, जासु नाम बल करउँ बिसोकी।
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी, रघुबर सब उर अन्तरजामी॥
राम सो परमातमा भवानी, तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी।

इससे अब शिव-प्रतिपादित राम के रूप के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सच्चिदानन्द ब्रह्म राम हैं। वे सबके परम प्रकाशक हैं। अनादि हैं। मायाधीश हैं। आदि और अन्त विहीन हैं। पैरों के बिना चलने वाले, हाथों के बिना कर्म करने वाले, मुँह के बिना सब रसों को भोगने वाले, वाणी के बिना वक्तृता देने वाले परम योगी, शरीर के बिना स्पर्श करने वाले, नेत्र के बिना देखने वाले, नाक के बिना सूँघनेवाले, वेद-निरूपित और मुनि-ध्यात ब्रह्म ही दशरथ पुत्र राम हैं। उन्हीं के नाम के बल पर शिव काशी में प्राण त्यागने वाले जीवमात्र को मुक्ति प्रदान करते हैं। वही चराचर के स्वामी, अन्तर्यामी रघुवर परमात्मा हैं।

शिव के भ्रम भञ्जन करने वाले इन वचनों को सुनकर पार्वती का मोह मिट गया। वे परम सुखी हुईं। फिर उन्होंने पूछा—

राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी, सर्व रहित सब उर पुर बासी।
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू, मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू।

इसी के उत्तर में शिव ने उमा को रामचरित सुनाया। अस्तु, उस चरित में आदि, मध्य और अवसान में सर्वत्र राम का वही रूप दिखलाया गया है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। आदि, मध्य और अन्त का यह अर्थ न लगाना चाहिए कि मानस के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में ही रघुवंश शिरोमणि राम का ब्रह्मत्व प्रकट किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मानस में आदि से अन्त तक सर्वत्र यही दिखलाया गया है कि परात्पर ब्रह्म ही नर लीला कर रहे हैं। राम के मानव

चरित्र में जहाँ कहीं ऐसे अवसर आये हैं जिनको देखकर उनकी अलौकिकता के सम्बन्ध में भ्रम हो सकता था वहाँ सचेत करने वाले वचन तुरन्त कहलाये गये हैं। हम कह आये हैं कि पार्वती तथा गरुड का भ्रम, सन्देह और मोह दूर करने के लिए उन्हें शिव एवं कागभुशुण्डि ने यहाँ कथा सुनायी थी। इसी से जब भी राम की लीला में उनके परब्रह्मत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न होने की स्थिति आती थी तब वक्ता श्रोता को सचेत करने से नहीं चूकते। इसी से कथा के वर्णन में व्यवधान भी पड़ता जान पड़ता है और बार-बार इस प्रकार की उक्तियाँ देखकर कुछ विद्वान् गोस्वामी जी के रचना-कौशल पर उँगली उठाते हैं। वे यहाँ तक कह डालते हैं कि मानस के कवि ने राम की चाटुकारी करने का बीड़ा उठा रखा है और वे अपने पाठक को इतना मूर्ख समझते हैं कि उससे वही बात बारम्बार कहते नहीं थकते। परन्तु तुलसीदासजी ने समझ-बूझकर ऐसा किया है। शिव की अर्द्धाङ्गिनी पार्वती तथा विष्णु के पार्षद गरुड जैसे ज्ञानियों को राम की लीला देखकर मोह हो गया था और मोह एक दो बातों से नहीं दूर होता। उसको हटाने के लिए बहुत समझाने-बुझाने की आवश्यकता पड़ती है। फिर भी वह बार-बार आ घेरता है। इसीसे गोस्वामी जी मोह उत्पन्न करने वाले अवसरों के आते ही श्रोता को सावधान करते चलना आवश्यक समझते थे। केवल थोड़े से ऐसे अवसर आये हैं जिनमें कोई सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए ही शिव ने पार्वती को और कागभुशुण्डि ने गरुड को सम्बोधित

किया है, अन्यथा राम के मोह में डालने वाले चरित्र को सुनकर सावधान रहने के लिए उन्होंने ऐसे सम्बोधनात्मक वचन कहे हैं। कुछ उदाहरण देकर इस तथ्य को पुष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है।

श्रीराम के बाल रूप का वर्णन हो रहा है—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा, नील कञ्ज बारिद गम्भीरा।
अरुन चरन पङ्कज नख जोती, कमल दलन्हि बैठे जनु मोती।
रेख कुलिस ध्वज अङ्कुस सोहै, नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।
कटि किङ्किनी उदर त्रय रेखा, नाभि गँभीर जान जेहि देखा।
भुज बिसाल भूषनजुत भूरी, हिय हरिनख सोभा अति रूरी।
उर मनिहार पदिक की सोभा, बिप्रचरन देखत मनु लोभा।
कम्बु कण्ठ अति चिबुक सुहाई, आनन अमित मदन छबि छाई।
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे, नासा तिलक को बरनै पारे।
सुन्दर श्रवन सुचारु कपोला, अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।
चिक्कन कच कुञ्चित गभुआरे, बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।
पीत झिगुलिया तनु पहिराई, जानु पानि बिचरनि मोहि भाई।

राम का यह सौन्दर्य मन को मोहित कर लेता है। इससे उनके ईश्वरत्व का स्मरण कराने और उनकी भक्ति की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता समझ शिव वर्णन के प्रवाह को क्षण भर के लिए रोक कर कहने लगते हैं—

रूप सकहिं नहि कहि श्रुति सेषा, सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा।

सुख सन्दोह मोहपर, ग्यान गिरा गोतीत।
दम्पति परम प्रेमबस, कर सिसुचरित पुनीत।

एहिं विधि राम जगत पितुमाता, कोसलपुरबासिन्ह सुखदाता।
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी, तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी।
रघुपति बिमुख जतन कर कोरी, कवन सकइ भव बन्धन छोरी।
जीव चराचर बस कै राखे, सो माया प्रभु सों भय भाखे।
भृकुटि बिलास नचावै ताही, अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही।
मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई, भजत कृपा करिहहिं रघुराई।

इस प्रकार पार्वती को राम के पर ब्रह्म रूप का ध्यान कराते हुए फिर के उन नगर-वासियों को सुखदायक शैशव-विनोद का उल्लेख करते हैं।

मारीच के कपट-मृग बनने की घटना प्रसिद्ध है। सीता उस माया-मृग के मनोहर रूप को देखकर भ्रम में पड़ गयीं। उन्होंने राम से उसका सुन्दर चर्म लाने का अनुरोध किया। उस माया का रहस्य राम से छिपा न था। कवि ने स्पष्ट कर दिया—

तब रघुपति जानत सब कारन, उठे हरषि सुरकाज सँवारन।

इतना ही नहीं। छद्मवेशी मृग का पीछा करते समय श्रीराम के लिए कवि ने यों लिखा है—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया मृग पाछे सो धावा।

मायाधीश राम की यह लीला श्रोता को भ्रम में डाल सकती थी, परन्तु कवि ने उसको सावधान कर दिया। राम सब कुछ जानते हैं, फिर भी वे देव कार्य करने के लिए यह लीला कर रहे हैं।

एक और दृश्य देखिए। श्रीराम सीता को खोजने के लिए

चल पड़े। लता, तरु, पत्तों तक से पूछ रहे हैं कि क्या तुमने मृग नैनी सीता को देखा है? वे विरही के समान विषाद कर रहे हैं—

लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा, देखत केहि कर मन नहिं छोभा।
नारि-सहित सब खग मृग बृन्दा, मानहु मोरि करत हहिं निन्दा।
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं, मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाये, कञ्चन-मृग खोजन ये आये।
सङ्ग लाइ करिनीं करि लेहीं, मानहुँ मोहि सिखावनु देहीं।
सास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिअ, भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं, जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं।
देखहु तात बसन्त सुहावा, प्रिया हीन मोहि भय उपजावा।
बिरह बिकल बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल॥

इसके पश्चात् कामदेव की सेना का विशद साङ्ग रूपक है। उसे पढ़कर कोई संदेह नहीं रह जाता कि रामचन्द्र विरहावस्था में पड़े सामान्य नर हैं। इसी अवसर पर सती ने उनको देखकर मनुष्य समझ भी लिया था। इसी भ्रम से बचाने के लिए शिव ने उन्हें तत्क्षण सचेत किया—

गुनातीत सचराचर स्वामी, राम उमा सब अन्तरजामी।
कामिन्ह कै दीनता देखाई, धीरन्ह के मन बिरति दृढाई।
क्रोध मनोज लोभ मद माया, छूटहिं सकल राम की दाया।
सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला, जापर होइ सो नट अनुकूला।
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना, सत हरि भजनु जगत सब सपना।

अङ्गद ने रावण की सभा में प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई मेरा पैर उस स्थान से हटा दे जिस पर मैंने रख दिया है तो 'फिरहिं राम, सीता मैं हारी'। इस पर अन्य सब के असफल प्रयास होने पर स्वयं रावण उठा। तब अङ्गद ने कहा कि मेरा पैर पकड़ने से तेरा उद्धार न होगा, तू राम के पैर क्यों नहीं पकड़ता? इस पर रावण लज्जित होकर बैठ गया। अङ्गद की प्रतिज्ञा अटल रही। इसके सम्बन्ध में शिव पार्वती से राम की दैवी शक्ति की चर्चा करना नहीं भूलते। वे कहते हैं—

जगदातमा प्रानपति रामा, तासु बिमुख किमि लह बिस्रामा।
उमा राम की भृकुटि बिलासा, होइ बिस्व पुनि पावइ नासा।
तृन तें कुलिस कुलिस तृन करई, तासु दूत पन कहु किमि टरई।

शिवजी ने युद्ध में मारे गये राक्षसों को राम के हाथ से सद्‌गति दिलाने का उल्लेख किया था। इसमें भी राम की दिव्य शक्ति और भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है—

महा महा मुखिया जे पावहिं, ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं।
कहइ बिभीषन तिन्ह के नामा, देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा।
खल मनुजाद द्विजामिष भोगी, पावहिं गति जो जाचत जोगी।
उमा राम मृदु चित करुनाकर, बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।
देहिं परमगति सो जिय जानी, अस कृपाल को कहहु भवानी।
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी, नर मतिमन्द ते परम अभागी।

इसी प्रकार लक्ष्मण के शक्ति लगने पर रामचन्द्रजी विलाप करते समय कुछ ऐसी बातें कह गये थे जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप न थीं, यथा, वन में भाई का बिछोह होने की

आशङ्का होती तो मैं पिता की आज्ञा न मानता। इस प्रसङ्ग का वर्णन सहृदय भाई की स्वाभाविक दशा के अनुकूल है। इससे यह रामचन्द्रजी के नरत्व का सच्चा चित्र है। इसे ही उनका वास्तविक रूप न समझ लिया जाय इससे शिवजी कहते हैं—

उमा एक अखण्ड रघुराई, नरगति भगत कृपाल दिखाई।

ऐसे ही जब कुम्भकर्ण के सामने वानरों और भालुओं की सेना के पैर उखड़ गये और वह अङ्गद आदि को मूर्च्छित करके सुग्रीव को अपनी काँख में दबाकर चला तब शिवजी ने सोचा कि यह ऐसा प्रसङ्ग है जिससे भ्रम अपना प्रभाव मन पर जमा सकता है। इससे वे बोले—

उमा करत रघुपति नर-लीला, खेल गरुड जिमि अहिगन मीला।
भृकुटि भङ्ग जो कालहि खाई, ताहि कि सोहै ऐसि लराई।
जग पावनि कीरति विस्तरिहहिं, गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं।

इसी युद्ध में आगे चलकर जब मेघनाद ने रामचन्द्रजी को अपनी माया के नागपाश में बाँध दिया तब उनकी अलौकिक शक्ति के प्रति संदेह उत्पन्न होने का अवसर उपस्थित हुआ। उसे दूर करने के लिए शिवाजी बोले—

ब्याल पास बस भये खरारी, स्वबस अनन्त एक अबिकारी।
नर इव कपट चरित कर नाना, सदा स्वतन्त्र एक भगवाना।
रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो, नाग-पास देवन्ह भय पायो।
गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भव पास।
सो कि बन्ध तर आवै, ब्यापक बिस्व निवास।

चरित राम के सगुन भवानी, तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी।
अस बिचारि जे तग्य बिरागी, रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी।

ऐसे ही अन्य कई अवसरों पर भी शिव ने मोह उत्पन्न होने वाले अवसर आते ही पार्वती को सावधान किया है। काग भुशुण्डि भी कथा का प्रवाह रोककर भी रामचन्द्र के प्रति गरूड को चेतावनी देना नहीं भूले। यथा, जिस समय राजतिलक के अनन्तर रामचन्द्र सुग्रीव, अङ्गद आदि को विदा करने गये उस समय अङ्गद का प्रेम देखते ही बनता था। वह किसी भी प्रकार राम के पास से जाना नहीं चाहता था।

अङ्गद हृदय प्रेम नहिं थोरा, फिरि फिरि चितव राम की ओरा।
बार बार कर दण्ड प्रनामा, मन अस रहन कहहिं मोहि रामा।
राम बिलोकनि बोलनि चलनी, सुमिरि सुमिरि सोचत हँस मिलनी।

परन्तु अन्त में

प्रभु रुख देखि विनय बहु भाषी चलेउ हृदय पद-पङ्कज राखी।

इसके पश्चात् सुग्रीव की आज्ञा पाकर हनुमान 'रघुपति-पद-सेवा' के लिए लौटने लगे। तब अङ्गद का प्रेम फिर उमड़ आया। उसने हनुमान से कहा—

कहेहु दण्डवत प्रभु सें, तुम्हहिं कहौं कर जोरि।
बार बार रघुनाथकहि, सुरति करायेउ मोरि॥

इससे अनन्तर जो हुआ वह कवि के मुँह से ही सुनिए—

अस कहि चलेउ बालिसुत, फिरि आयेहु हनुमन्त।
तासु प्रीति प्रभु सन कही, मगन भये भगवन्त।

अङ्गद के प्रेम की चर्चा होने पर राम भी प्रेम-मग्न हो

गये। उनका यह मानव सुलभ प्रेमातिरेक उनकी कथा के श्रोता को भ्रम में डाल सकता था। यह देख कागभुशुण्डि ने तुरन्त गरुड को सजग किया—

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर, समुझि परै कहु काहि ?

राम-कथा सुनाने के पश्चात् कागभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि आपको ही नहीं, नारद, ब्रह्मा, सनकादि और आत्म-ज्ञानी मुनियों तक को मोह हो चुका है। माया का प्रचण्ड कटक संसार भर में व्याप्त है। परन्तु

जो माया सब जगहि नचावा, जासु चरित लखि काहु न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू-विलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा।
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा, अज बिग्यान रूप बलधामा।
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी, ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं, रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।
भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।

इसी प्रकरण में कागभुशुण्डि ने अपने मोह होने राम, के भीतर प्रविष्ट होने एवं वहाँ विराट् रूप देखने का वर्णन करके अपना अनुभव बतलाया था और अन्त में निष्कर्ष रूप से कहा था कि

कवनिउ सिद्धि कि बिन बिस्वासा। बिनु हरि-भजन न भव-भय नासा।
बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिस्रामु॥

अतएव

अस बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर, करुना कर सुन्दर सुखद।

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने कथा के प्रवाह के रुक जाने की चिन्ता छोड़कर भी, उसमें क्षण भर के लिए व्याघात पहुँचाते हुए भी अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए राम का परात्पर ब्रह्मत्व सूचित करते रहना आवश्यक समझा था। ऐसा बारम्बार करने का एक मात्र कारण यह था कि मोह किसी भी क्षण आकर मन पर अपना प्रभाव डाल सकता है। इसलिए जब कभी भी उसके आक्रमण की आशङ्का हो तभी तुरन्त श्रोता को सचेत कर देना उचित है। तभी उन्होंने मानस के आदि, मध्य और अवसान में अर्थात् सर्वत्र 'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना' का ध्यान रखा है।

मानस के सभी पात्रों में राम-भक्ति की व्याप्ति

गोस्वामीजी ने कथा कहते कहते थोड़ी देर रुक कर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए राम के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन ही नहीं किया। उन्होंने अन्य प्रकार से भी इस कार्य का सम्पादन किया है।

मानस में श्रीराम के सम्पर्क में आने वाले जिन व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है वे सभी प्रकट वा अप्रकट रूप से उनके भक्त थे और उनको ईश्वर मानते थे। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए मानस के पात्रों पर विचार करना उचित होगा।

रामचरितमानस में जिन व्यक्तियों के बीच श्रीराम के

जीवन का विकास देखा गया है उन पर उक्त दृष्टि से विचार करने में सुविधा हो, इस उद्देश्य से उनको कुछ वर्गों में बाँट लिया जाय तो अच्छा हो। पहले वर्ग में हम उनको लेंगे जो श्रीराम के परिवार के और आत्मीयजन थे; दूसरे में उनकी गणना करेंगे जो उनके भक्त और अनुगत थे और तीसरे में उनको देखेंगे जो उनके विरोधी और विपक्षी थे। इन तीनों समूहों में परिगणित पात्रों के चरित्र का केवल वह अंश देखने की चेष्टा हम करेंगे जो सबमें समानरूपेण पाया जाता है, उनके व्यक्तित्व का सम्यक् परिचय न देंगे। साथ ही विस्तारभय से बहुत-सी बातों का संकेत मात्र करेंगे।

आइए, सबसे पहले हम श्रीराम के परिवारिक सम्बन्ध में गण्य महानुभावों पर दृष्टिपात करें। मनु और शतरूपा ने (एक कल्प में कश्यप और अदिति) 'हरि हेतु' तप किया। प्रभु ने उनका पुत्र होना स्वीकार किया। वे अयोध्या में क्रमशः दशरथ और कौशल्या हुए। कुलगुरु वसिष्ठ के आदेश से महाराज दशरथ ने शृङ्गी ऋषि द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। पूर्व जन्म में प्राप्त वर के अनुसार कौशल्या के गर्भ में श्रीहरि आये। वही आनन्द-सिन्धु, सुखराशि और सुखधाम श्रीराम हुए। महाराज दशरथ को अन्य रानियों से भी पुत्र हुए थे—कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न—और उन्हें सभी सुत प्राणसमान प्रिय थे, फिर भी श्रीराम सबसे अधिक प्रिय थे। यह बात उन्होंने स्वयं विश्वामित्रजी से उस समय स्वीकार की थी जिस समय उन्होंने राक्षसों से अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिए

अनुज सहित श्रीरघुनाथ को कुछ दिनों के लिए महाराज से माँगा था। वे ज्ञानी मुनि (विश्वामित्र) राजा की प्रेम रस में सनी उक्ति सुनकर हर्षित हुए थे। कारण, वे इस बात से राजा के आन्तरिक प्रेम से परिचित हो गये। और यह प्रेम साधारण वात्सल्य प्रेम मात्र न था। यदि वही होता तो राजा ने आगे चलकर, कैकेयी को दिये हुए वरदान के कारण निर्दोष राम का चौदह वर्ष का दीर्घकालीन वियोग उपस्थित होने पर तृण के समान प्राण न त्याग दिये होते। राजा 'ब्रह्म' राम की पुत्रविषयक रति का वरदान पूर्व जन्म में पा ही चुके थे। तभी वे यह भी माँग चुके थे कि

मनि बिनु फनि, जिमि जल बिनु मीना, मम जीवन तुम तुम्हहिं अधीना

पाञ्चभौतिक शरीर त्यागने के बाद राजा दशरथ 'सुरधाम' (देवलोक) गये। रावण-विजय के अनन्तर देवलोक से राजा दशरथ श्रीराम के पास आये और प्रेमातिरेक के कारण साश्रु तथा रोमाञ्चित हुए। रघुपति ने उनके उसी (पुत्रविषयक) प्रेम का अनुमान करके उन्हें [सायुज्य] मुक्ति न देकर सुरधाम प्रदान किया। इससे दशरथ के राम-भक्त होने का स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है।

कौशल्याजी ने, जैसा कहा जा चुका है, श्रीराम को पूर्व तप के परिणामस्वरूप पाया था। जन्म लेते ही वनमाला-विभूषित चतुर्भुज रूप में माता को श्रीकन्त ने दर्शन दिये थे और उनके निवेदन करने पर बालरूप ग्रहण करके शिशुलीला की थी। कुछ समय पश्चात् एक दिन कौशल्या जी ने श्रीराम को स्नान कराया,

उनका शृङ्गार किया और पालने में सुला दिया। फिर स्वयं स्नान करके अपने इष्टदेव की पूजा की, उन्हें नैवेद्य चढ़ाया और पाकशाला गयीं। वहाँ से लौटने पर पुत्र को (नैवेद्य का) भोजन करते देखा, और वहाँ से लौटकर देखा, तो पालने में पुत्र सो भी रहा है। इस प्रकार एक ही पुत्र को एक ही समय दो काम करते देखकर माता को बड़ी व्याकुलता हुई। इस पर प्रभु मुसकराये। उनके मुख के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देखने के साथ ही कौशल्या ने प्रभु को हाथ जोड़े खड़ी, जीव को नचाने वाली माया को और जीव को माया के बन्धन से खोलने वाली भक्ति को देखा। कौशल्या ने इस घटना से अपने इष्टदेव राम को पहचाना और उनकी भक्ति का रहस्य देखा। इसी भक्ति के बल पर उन्होंने श्रीराम का चिरकालिक वियोग सहन किया।

कैकेयी को वास्तव में राम 'प्रान ते अधिक प्रिय' थे, परन्तु उन्होंने जो उनके वन जाने के लिए हठ किया था, वह 'भावी बस' (होनहार के कारण) समझना चाहिए। और जब उन पर से मंथरा की कुसङ्गति का प्रभाव दूर हुआ, तब इस रामद्रोह का फल आजीवन भोगती रहीं। उनकी इसी आत्मग्लानि को दूर करने के लिए श्रीराम ने चित्रकूट में सब माताओं से पहले उन्हीं को भेंटा था और अयोध्या लौटने पर उनसे बार-बार मिले थे—

। कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले, मन कर छोभ न जाइ।

और सुमित्रा जी तो मानती थीं कि वही युवती पुत्रवती कहलाने की अधिकारिणी है जिसका पुत्र रघुपति का भक्त हो।

राम के विमुख पुत्र को जन्म देना (पशुओं की भाँति) ब्याना है और ऐसे पुत्र को ब्याने की अपेक्षा बाँझ रहना अच्छा है। इसीलिए उन्होंने श्रीराम के साथ वन जाने की आज्ञा के निमित्त आये हुए लक्ष्मण से कहा था कि—

सकल सुकृत कर बड़ फल एहू, राम सीय पद सहज सनेहू।

लक्ष्मण-जैसे अनन्य राम-सेवक की माता सुमित्रा की राम-भक्ति की उच्चता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है।

सुमित्रा-तनय लक्ष्मणजी देह और गेह सबसे तिनके की तरह सम्बन्ध तोड़कर श्रीराम के अटूट अनुगामी हुए थे। उनके विषय में कवि ने लिखा है कि

बारेहि तें निज हित पति जानी, लछिमन राम चरन रति मानी।

उनके आदर्श और सिद्धान्त, उन्हीं के उन वचनों से सूचित होते हैं जो उन्होंने श्रीराम से कहे थे—

जहँ लगि जगत सनेह सगाई, प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबन्धु उर अंतरजामी।

और—

भरत सत्रुहन दूनउ भाई, प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई।

कौशल्याजी के कथनानुसार भरतजी के 'राम प्रानहु ते प्रान' थे और स्वयं उन्हीं ने कहा था कि 'सियपति सेवकाई' ही मेरा 'हित' है। सच पूछिए तो भरत श्रीराम के स्नेह के रूप थे—'धरें देह जनु राम सनेहू।' उनकी श्रीराम-भक्ति का वर्णन मानस के कवि ने द्वितीय सोपान में जिस विशद और मनोरम ढङ्ग से किया है, उसे वहीं देखना चाहिए। वे तो रामभक्तों में अग्रगण्य

हैं। गोस्वामीजी ने एक ही अर्धाली में उनका समस्त सौन्दर्य अङ्कित कर दिया है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू, जीह नामु जप लोचन नीरू।

उनका चरित्र लोक को श्रीराम की भक्ति की ओर आकृष्ट करने का साधन है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

सीताजी तो परम पुरुष राम की 'परमशक्ति' ही थीं। जब रावण के अत्याचारों से व्याकुल होकर देवताओं ने प्रभु से भू-भार हटाने की प्रार्थना की थी, तब उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा भी था—

परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

उन 'जगदंबिका रूप गुन खानी' सीताजी के श्रीराम सर्वस्व थे। उन्होंने उनसे वनयात्रा के प्रसङ्ग में कहा भी था—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं, मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।

जब रावण ने उनका अपहरण कर उन्हें अशोकवाटिका में वन्दिनी किया था, तब वे अहर्निश श्रीराम के ध्यान में मग्न रहती थीं—

जेहि बिधि कपट कुरङ्ग सँग, धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥

वे 'दीनबंधु प्रनतारति हरना' की 'मन क्रम वचन चरन अनुरागी' थीं। और उनकी सेवा ही उनका चरम कर्तव्य था—

जेहि बिधि कृपासिन्धु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥

उनकी अनन्य रामभक्ति के विषय में गोस्वामीजी ने कहा है—

जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति, करति स्वभावहि खोइ॥

भोग को योग में गुप्त रखने वाले राजर्षि जनक ने विश्वामित्र जी के साथ अपनी पुरी में राम-लक्ष्मण के पधारने पर तुरन्त ही उनका रूप पहचान लिया था, क्योंकि उनका 'सहज बिराग रूप मन' उनको देखते ही 'थकित होत जिमि चन्द चकोरा', और तभी राजा ने मुनि से राजकुमारों के विषय में जिज्ञासा की थी कि

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा॥

विवाह के उपरान्त विदा होते समय उन्होंने श्रीराम से जो प्रेममयी बातें की थीं, उनसे उनके सम्बन्ध की धारणा स्पष्ट प्रकट होती है—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा, मुनि महेस मन मानस हंसा।
करहिं जोग जोगी जेहि लागी, कोहु मोहु ममता मृदु त्यागी।
व्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी, चिदानन्दु निरगुन गुनरासी।
मन समेत जेहि जान न बानी, तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगमु नेति कहि कहई, जो तिहुँ काल एकरस रहई।

नयन विषय मो कहुँ भयउ, सो समस्त सुख मूल।
सबहि लाभु जग जीव कहँ, भयें ईसु अनुकूल॥

श्रीरामचन्द्र के इन आत्मीयजनों के अतिरिक्त उनके गुरुद्वय वसिष्ठ और विश्वामित्र भी हृदय से उनके भक्त थे। वसिष्ठजी ने

तो वेद, पुराण और स्मृतिनिन्दित 'अति मन्द उपरोहित्य कर्म' सूर्यवंश में केवल इस लोभ से किया था कि आगे चलकर 'परमात्मा ब्रह्म नररूप' धारण करके 'रघुकुलभूप' होंगे और जिनके लिए योग, यज्ञ, व्रत, दानादि किये जाते हैं, वही मुझको मिल जायँगे। उनकी धारणा थी कि

सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पण्डित, सोइ गुनगृह बिग्यान अखण्डित।
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई, जाकें पद सरोज रति होई।

इसी लिए उन्होंने कहा था कि

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

साथ ही विश्वामित्र जी को जब राक्षसों के उत्पात के कारण यज्ञ करना कठिन हो गया—

तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा, प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा।
एहूँ मिस देखौं पद जाई, करि बिनती आनौं दोउ भाई।
ग्यान बिराग सकल गुन अयना, सो प्रभु मैं देखब भरि नयना।

कुछ व्यक्तियों के ही नहीं, समष्टि रूप से सब लोगों के भी श्रीराम इष्ट थे। अयोध्यापुर-वासियों के तो वे सुखदाता थे। उन लोगों ने खुलकर कहा है कि

राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं।

और जनकपुर के निवासियों को भी वे सुखद थे—

निरखि सहज सुंदर दोउ भाई, होहिं सुखी लोचन फलु पाई।

ऐसे ही ग्रामवासी स्त्री-पुरुष सब राम, लक्ष्मण और सीता के प्रति जिस प्रीति का अनुभव करते थे वह साधारण राजकुमार

वा राजकुमारी के प्रति नहीं हो सकती थी। वन जाते समय मार्ग में पड़ने वाले गाँवों के रहने वालों को भी उनसे सुख मिला था।

यह तो हुई जनसमूह की श्रीराम के प्रति भक्ति की बात। अब हम मानस के कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को देखेंगे जो राम को ईश्वर रूप में देखते थे। पहले हम कुछ परमार्थ साधकों को लेंगे। ऊपर लोक के कार्यों में संलग्न, परन्तु परलोक का ध्यान रखने वाले दो महात्माओं—वसिष्ठ और विश्वामित्र—की राम-विषयक प्रवृत्ति का उल्लेख हो चुका है। अब कुछ एक विरागी साधुओं की भी तत्सम्बन्धी धारणा देख ली जाय। भरद्वाज मुनि के आश्रम में जिस समय राम लक्ष्मण और सीता के साथ पहुँचे थे उस समय का—

मुनि मन मोद न कछु कहि जाई, ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई।

मुनि ने भगवान् से कहा था कि

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू, आजु सुफल जप जोग बिरागू।
सुफल सकल सुभ साधन साजू, राम तुम्हहि अवलोकत आजू।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी, तुम्हरे दरस आस सब पूजी।

इसी तरह अपने आश्रम में

मङ्गल मूरति नयन निहारी, बालमीकि मन आनँदु भारी।

हुआ था। मुनि ने राम को जगदीश और सीता को उनकी माया कहा था और बतलाया था कि

चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत बिकार जान अधिकारी।
नरतनु धरेहु सन्त सुर काजा, कहहु करहु जस प्राकृत राजा।

कुछ काल तक चित्रकूट में रहने के अनन्तर जब श्रीरामचन्द्र वहाँ के तपस्वी ऋषियों से विदा होकर आगे जाने लगे तब उन लोगों ने उनकी जो स्तुतियाँ की हैं उनसे प्रकट होता है कि वे सब श्रीराम को ईश्वर मानते थे। अत्रि ने स्तुति करने के पश्चात् श्रीराम से हाथ जोड़कर विनती की थी कि

चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि।

ऐसी ही सरभंग मुनि ने प्रार्थना की थी कि—

सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरन्तर, सगुन रूप श्रीराम॥

सुतीक्ष्णजी की श्रीराम की प्रतीक्षा में जो सजीव शब्दमूर्ति गोस्वामीजी ने बनायी है वह अनुपम है। ध्यानमग्न मुनि 'बहुभाँति' जगाने पर भी जब न जगे, तब प्रभु ने 'भूपरूप' छोड़ कर हृदय में 'चतुर्भुज रूप' दिखलाया। इस पर मुनि की मणि-अपहृत फणी की-सी आकुलता उनकी श्रीरामोपासना की अनन्यता सूचित करती है और बाद में उनका वर माँगना और यह कहना कि

अस अपमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।

उन्हें रामभक्त घोषित करता है। ऐसे ही ब्रह्मज्ञ अगस्त्य ऋषि ने भी खुले शब्दों में कहा है कि

फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं।

इन ब्रह्मज्ञानियों के साथ ही चित्रकूट के कोल-भिल्लादि सामान्य जनों ने भी राम की ईश्वरता को जानकर परम सन्तोष प्राप्त किया था। निषादराज गुह की भगवद्भक्ति विख्यात ही

है। वे राम के अपनाये हुए अन्तरङ्ग भक्त थे। और शबरी भीलनी उनकी अद्वितीय भक्त थी। वह तो उनके मुखकमल का हृदय में ध्यान करते हुए योगाग्नि से श्रीराम के सामने ही शरीर त्याग कर उनमें लीन हो गयी थी। उसके अतिरिक्त अपनी नाव पर गङ्गा पार उतारने वाला केवट भी श्रीराम के मर्म को जानने वाला था। उसने जिस चतुरता से भगवान का चरणोदक पाया था उसका स्मरण आते ही मन मुग्ध हो जाता है। गोस्वामीजी ने श्रीरामचन्द्र की भक्ति का रस इन साधारण जीवों को ही नहीं चखाया, पशु-पक्षियों तक को भी पान कराया है। चित्रकूट के चर-अचर सभी प्राणी राम के सामीप्य से कृतार्थ हो गये थे। इसी प्रसङ्ग में गृध्रराज जटायु का स्मरण आता है। उसको भगवान के हाथों अन्त्येष्टि-संस्कार का सौभाग्य मिला। भक्ति का इससे बढ़कर पुरस्कार किसी दूसरे जड या चेतन प्राणी को नहीं मिला।

तुलसी के राम के भक्त केवल नागरिक सभ्य, वनवासी, सिद्ध तपस्वी, और असभ्य नर ही नहीं थे; वानर और भालु भी थे, जो नरकोटि में नहीं आते। उनमें सुग्रीव, अङ्गद और जाम्बवान् कुछ प्रमुख श्रीराम के भक्त और अनुचर थे। उनके भक्त सुग्रीव का शत्रु बालि अपनी पत्नी तारा के बहुतेरा समझाने पर भी उनके महत्त्व से भयभीत नहीं हुआ था, परन्तु उसने भी सम्मुख उपस्थित होने पर श्रीराम के ईश्वरत्व को स्वीकार किया था और उनके हाथ से मरकर मुक्ति पाई थी। और वानर-शिरोमणि हनुमान्! वे तो राम के परम प्रिय सेवक ही नहीं,

प्रधान भक्तों के भी मुकुट थे। वे कृपासिंधु के 'मन क्रम बचन' से दास थे। भगवती सीता ने उन्हें आशीर्वाद दिया था कि 'करहुँ वहुत रघुनायक छोहू।' इसी राम भक्ति के प्रताप से मानस के समस्त पात्रों में हनुमान् अग्रगण्य हैं।

अभी तक जिन महानुभावों का नाम लिया गया है, वे श्रीराम के आत्मीयजन उपासक वा अनुगत थे; उनमें से केवल बालि ऐसा था जो उनके रूप को न पहचान सकने के कारण पहले उनका भक्ति नहीं था, परन्तु पीछे से उसने भी जन्म जन्मातर में भी राम-पद की रति का वरदान माँगकर प्राण त्यागे थे और उनकी ईश्वरता स्वीकार की थी। अब ऐसे लोगों विषय में कुछ कहना है जो श्रीरामचन्द्र जी के शत्रु वा शत्रुपक्ष के थे। इन लोगों में से पहले ऐसों पर विचार कर लिया जाय जो शत्रुवर्ग में रहते हुए भी श्रीराम के प्रशंसक और भक्त थे। सर्व-प्रथम विभीषण को लिया जाय। वे पहले से ही श्रीरामोपासक थे। हनुमान् जी सीतान्वेषण में उनके अवर्णनीय शोभावाले भवन को 'रामायुध अङ्कित' और 'नव तुलसिका बृंद' सहित देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए थे। उसे देखते ही उन्होंने उसमें रहने वाले के सज्जन होने का अनुमान किया। इतने में ही विभीषणजी जगे और उन्होंने 'राम-राम' का स्मरण किया। फिर क्या था, हनुमानजी प्रकट होकर उनसे पूछताछ करने के लिए प्रोत्साहित हुए। वार्तालाप करने पर विभीषण खुले। उन्होंने अपनी 'दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी' की-सी रहनि बतलायी और पूछा कि

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा, करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा ?

उन्हें अपने साधन या प्रभु के पद सरोज में प्रीति का भरोसा न होते हुए उनकी अकारण कृपा का विश्वास था। यही भक्त का लक्षण है। यदि भक्त को अपने कर्मों का अभिमान हुआ तो उसका आगे बढ़ना सुगम नहीं होता। विभीषण ने जब देख लिया कि रावण अनीति का पथ किसी प्रकार नहीं छोड़ता और समझाने पर भी उन्हें मानुष-तनधारी 'ब्रह्म, अनामय, अज, भगवन्त' नहीं मानता तब उसका साथ त्यागने का निश्चय किया और सबको बतलाकर श्रीराम की शरण ली। भगवान् ने उन्हें अङ्गीकार किया।

रावण के पक्ष के अन्य लोग विभीषण की भाँति राम-दल में आकर मिले नहीं, परन्तु कुछ ऐसे हुए हैं जो श्रीराम का समर्थन करने के कारण रावण के कोपभाजन हुए थे। माल्यवान् और शुक को रावण का दरबार छोड़ना पड़ा था। शुक तो राम को 'अखिल लोक कर नायक' मानता था। रावण के पादप्रहार करने पर वह राम की शरण भी गया था। उनकी कृपा से उसको सद्गति प्राप्त हुई थी।

यद्यपि मन्दोदरी ने रावण का साथ नहीं छोड़ा, फिर भी उसके सीतापहरण-कर्म की सदा निन्दा की थी और बार-बार समझाया था कि तुम श्रीरामचन्द्र का विरोध करने में समर्थ नहीं हो, तुम्हारा उनका जोड़ नहीं, फिर क्यों व्यर्थ अपना सर्वनाश करते हो। जब राम के उन बाणों से रावण के छत्र और मुकुट तथा मन्दोदरी के ताटङ्क गिरे थे, जिनको कोई देख नहीं पाया था,

तब भयङ्कर अपशकुन समझ मन्दोदरी ने रावण से राम का 'विश्वरूप' वर्णन किया था। इससे उसका राम के वास्तविक रूप का बोध सूचित होता है। इसी भाँति उसने रावण के मारे जाने पर जो विलाप किया था उसमें भी राम को 'अग जग नाथ' और 'स्वयं हरि' स्वीकार किया था।

कालनेमि और मारीच ने रावण से खुले शब्दों में राम की ईश्वरता घोषित की थी। परन्तु उसके स्वीकार न करने पर उसका आदेश पालन किया; सो भी मन में उनके ईश्वर होने का दृढ़ निश्चय रहा, और उनके हाथ से मुक्त होने की आशा से रावण के कथनानुसार आचरण किया। कुम्भकर्ण ने जगाये जाने पर रावण को बहुत भला-बुरा कहा था कि तुमने सीता-हरण करके बहुत बुरा किया। अब भी अभिमान छोड़ कर राम का भजन करो। तुम्हारा कल्याण होगा। तुमने

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक, सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।

परंतु अब तो समय बीत गया। इसलिए

अब भरि अङ्क भेटु मोहि भाई, लोचन सुफल करौं मैं जाई।
स्याम गात सरसीरुह लोचन, देखौं जाइ ताप त्रय मोचन।

ऐसा कह कर

राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक।

इस वर्णन से कुम्भकर्ण राम का पूरा भक्त प्रकट होता है। जब रणक्षेत्र में विभीषण उससे मिला था, तब उसने कहा था कि

बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर, भजेहु राम सोभा सुख सागर।

और अंत में उसको भक्ति का फल यह मिला कि मरने पर

तासु तेज प्रभु बदन समाना।

मेघनाद ने अत्यंत दृढ़तापूर्वक युद्ध किया, परन्तु मरते समय

रामानुज कहँ रामु कहँ, अस कहि छाँडेसि प्रान।

और

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।

परन्तु मेघनाद तो ऐसे मुनियों से बढ़ गया और उसके मरती बार सब कपट त्यागने से ही भगवान ने उसे सद्गति दी। इसी तरह खर-दूषण शूर्पणखा के भड़काने पर जब राम पर आक्रमण करने पहुँचे तब

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी, थकित भई रजनीचर धारी।

और उनकी सेना के सभी निसाचर भी

राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पद निर्वान।

अन्त में श्रीरामचन्द्रजी के प्रधान और आमरण प्रबल शत्रु-भाव से परिपूर्ण रावण को देखने पर उसे भी हृदय से रामभक्त कहा जा सकता है। जिस समय शूर्पणखा ने उसे खर-दूषण की असंख्य सेना के संहार का समाचार सुनाया और अपने अपमान का बदला लेने का आग्रह किया उस समय वह सबको समझा-बुझाकर चला तो गया, परन्तु रात में, अपने भवन में, सोचने लगा कि

खर दूषन मो सम बलवन्ता, तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता।

इसलिए

सुर रञ्जन भञ्जन महि भारा, जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा।
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ, प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ।

क्योंकि

होइहि भजनु न तामस देहा, मन क्रम बचन मन्त्र दृढ एहा।

रावण ने इसी दृढ़ निश्चय के अनुसार राम से वैर किया और उसे अन्त तक निभाया। उसने राम के पुरुषार्थ को देखा और उनके असली रूप को समझा, पर अपनी बातों या अपने कर्मों से यह कभी प्रकट न होने दिया कि वह किसी भी तरह राम की श्रेष्ठता मानता था। यहाँ तक कि उसने अपने मुँह से कभी राम का नाम तक नहीं लिया। जब काम पड़ा तब 'नृपबालक' या 'तपसी' ही कहा। रावण राम को ही निरन्तर शत्रुभाव से स्मरण नहीं करता रहा, सीताजी का भी ध्यान सदा करता रहा। जब वह युद्ध में कई दिन मारा न जा सका तब सीताजी घबरा उठी थीं और नाना प्रकार से विलाप करने लगी थीं। त्रिजटा ने उन्हें समझाया था कि वह सुरारि हृदय में बाण लगते ही मर जायगा, परन्तु

प्रभु ताते उर हतइ न तेही, एहि के हृदयँ बसति बैदेही।

जब श्रीराम ने उसका संहार किया तब अन्त में उसने भी अपना कपट छोड़ दिया और राम का नाम लिया—'कहाँ रामु रन हतौं पचारी'। इस वैर भाव से सतत स्मरण के फलस्वरूप ही 'तासु तेज समान प्रभु आनन।' और 'खल मल धाम काम रत रावन' ने 'गति पाई जो मुनिवर पाव न।'

श्रीराम ने अपने समस्त शत्रुओं को भी वही गति दी जो भक्तों को मिलती है। तभी इन्द्र द्वारा अमृत वर्षा होने पर केवल भालु-कपि जी उठे थे, राक्षस नहीं जिये थे। कारण

'रामाकार भये तिन्ह के मन।' इसी से 'मुक्त भये छूटे भव बन्धन।'

मानस की कथा में इन लोगों के अतिरिक्त कुछ दिव्य चरित्र भी आये हैं। उन सबने भी राम को ईश्वर ही माना है। पहले उनमें शिव को लीजिए। वे राम-तत्त्व के मर्मज्ञ और उद्घाटन करने वालों के आदि आचार्य हैं। राम-जन्म के समय उन्होंने काकभुशुण्डि के साथ मनुज-रूप धारण कर अयोध्यापुरी पहुँचकर परमानन्द का अनुभव किया था। जिस समय शिव, ब्रह्मा, इन्द्र और अन्य देवता राम का व्याह देखने के लिए जनकपुर पहुँचे थे उस समय वहाँ के वैभव, ठाट-बाट एवं रूप निधान पुरुषों और स्त्रियों को देखकर वे भौंचक्के रह गये थे। ब्रह्मा को तो कहीं भी अपनी रचना नहीं दिखलायी पड़ी थी, इससे विशेष आश्चर्य हुआ था। यह सब देख कर

सिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर-धरि, सिय रघुबीर बिआहु॥

इसके पश्चात् कवि ने खोलकर कहा कि—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं, सकल अमङ्गल मूल नसाहीं।
कर तल होहिं पदारथ चारी, तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥

रावण-विजय के अनन्तर शिव ने राम की स्तुति की थी और कहा था कि

भव बारिधि मन्दर परमं दर, बारय तारय संसृति दुस्तर।

आगे राज्याभिषेक हो जाने पर भी शिव ने राजाधिराज राम से विनय की थी कि

तव नाम जपामि नमामि हरी, भव रोग महा गद मान अरी।
गुन सील कृपा परमायतनं, प्रनमामि निरन्तर श्रीरमनं॥

इस प्रकार शिव ने राम को संसार-सागर से उद्धार करने का साधन मान कर उनका नाम जपते रहने की घोषणा की थी। राम के समर-विजय कर चुकने पर ब्रह्मा ने उनकी स्तुति करते हुए कहा था—

अज व्यापकमेकमनादि सदा, करुनाकर राम नमामि मुदा।
गुन ग्यान निधान अमान अजं, नित राम नमामि विभु विरजं।
भव तारन कारन काज परं, मन सम्भव दारुन दोष हरं।
नृप नायक द वरदानमिदं, चरनाम्बुज प्रेम सदा सुभदं।

इसी समय इन्द्र ने इस रूप में राम की शरणागति की याचना की था—

अब सुनहु दीन दयाल, राजीव नयन बिसाल।
मोहि रहा अति अभिमान, नहिं कोउ मोहि समान।
अब देखि प्रभु पदकञ्ज, गत मान प्रद दुख पुञ्ज।
कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप, श्रीराम सगुन सरूप।
वैदेहि अनुज समेत, मम हृदयँ करहु निकेत।
मोहि जानिये निज दास, दे भक्ति रमा-निवास।

इसी विजय के अवसर पर देवताओं ने राम की स्तुति की थी—

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी, सदा एकरस सहज उदासी।
अकल अगुन अज अनघ अनामय, अजित अमोघ सक्ति करुनामय।

मीन कमठ सूकर नरहरी, बामन परसुराम बपु धरी।
जब जब नाथ सुरन दुख पायो, नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो।

इन्हीं दिव्यात्माओं के साथ ही नारद ने पम्पा सरोवर के तट पर राम की स्तुति करके जो वरदान माँगा था उस पर भी ध्यान देना चाहिए। उन्होंने याचना की थी कि

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका, श्रुति कह अधिक एक तें एका।
राम सकल नामन्ह ते अधिका, होउ नाथ अघ-खगगन बधिका।
राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल, बसहु भगत-उर-व्योम॥

मानस में राम-कथा की समाप्ति भी नारद-कृत स्तुति से हुई है। उसमें भी मुनि के पृथ्वी के भार को उतारने वाले और कलिमल-मथन शोभा सिन्धु राम का ध्यान करते हुए विधि-धाम जाने का उल्लेख हुआ है।

इससे भी राम की भक्ति का ही समर्थन होता है। इसी प्रसङ्ग में सदा ब्रह्मानन्द में लीन रहने वाले मुनिश्रेष्ठ सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमा के द्वारा की गयी स्तुति भी राम की ईश्वरता का समर्थन करती है—

जय भगवन्त अनन्त अनामय, अनघ अनेक एक करुनामय।
जय निर्गुन जय जय गुन सागर, सुख मन्दिर सुन्दर अति नागर।
सर्व सर्वगत सर्व उरालय, बससि सदा हम कहुँ प्रतिपालय।
द्वन्द बिपति भव फन्द-विभञ्जय, हृदि बसि राम काम-मद गञ्जय।

ऊपर के विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि 'रामचरित मानस' में तुलसीदास जी ने परब्रह्म राम के अवतार की

लीलाओं का गान किया है। उन्होंने दाशरथि राम के नर-चरित्र में सर्वत्र उनकी दिव्य शक्ति की झलक दिखलायी है।

देवता

जिस प्रकार सभी नदियों का जल किसी न किसी मार्ग से होता हुआ अन्त में समुद्र में जाता है उसी प्रकार रामचरितमानस में सबकी गति श्रीरामचन्द्र हैं। मानस की कथा में वे ही परात्पर ब्रह्म हैं, सबसे समर्थ देवाधिदेव हैं—यह हम ऊपर दिखला चुके हैं। उसमें उल्लिखित देवता भी उन्हीं के आश्रित हैं। वे उन्हीं का मुँह देखा करते हैं। रावण के सामने वे ठहर नहीं सकते थे। जब रावण ने स्वयं देव-लोक पर आक्रमण किया था तब 'देवन्ह तके मेरुगिरि खोहा'— देवता अपने स्थान से भाग खड़े हुए, उन्होंने सुमेरु की गुफाओं में छिपकर रावण से अपने प्राण बचाये। रवि, शशि, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल और यम सभी उसके वशवर्ती हो गये। उधर पृथ्वी भी रावण के अत्याचार से ऊब गयी। वह देवताओं के पास सहायतार्थ पहुँची। उनसे कुछ न बन पड़ा। तब पृथ्वी को लेकर सभी सुरों, मुनियों और गन्धर्वों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। ब्रह्मा भी प्रचण्ड रावण से उन्हें बचा न सकते थे। अतएव सबको समझाकर वे उन्हें 'प्रभु' की शरण में ले गये। शिव के परामर्श से सबने 'प्रभु' की सर्व-व्यापकता स्वीकार की। फिर ब्रह्मा ने अविनाशी, घट-घटवासी, व्यापक, परमानन्द श्री भगवान को भयातुर मुनियों, सिद्धों तथा सकल सुरों की आर्तवाणी सुनायी। उसी समय भू-भार हरने के लिए कोशलपुरी में दशरथ-कौशल्या के घर अवतार लेने की

ब्रह्मवाणी आकाश से सुनायी पड़ी। उसने देव-समुदाय को अभय किया।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि देवता राम को ही सर्व शक्तिमान समझते थे। इसी लिए मानस में सर्वत्र उन्हें राम के आश्रित दिखलाया गया है। वे सदा आकाश में आकर राम के कामों को देखकर नेत्र-लाभ किया करते थे। जिस समय रामचन्द्र जी विवाह-मण्डप में पधारे थे उस समय वहाँ ही धूम नहीं मची थी, आकाश में देवताओं के बीच भी आनन्द छाया हुआ था—'नभ अरु नगर कोलाहल होई।' अवसर आने पर देवतागण श्रीरामचन्द्र पर पुष्प-वर्षा भी किया करते थे—'समय समय सुर बरषहिं फूला।' इसी प्रकार युद्ध के समय भी देवता राम के कार्य-कलाप देखने के लिए आकाश में पहुँच जाया करते थे—'सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना, देखत रन नभ चढ़े बिमाना।' और जब राम युद्ध में रावण को मारने में कुछ विलम्ब करते जाने पड़ते थे तब वे उनसे जो कुछ कहते थे वह कवि इस रूप में लिखते हैं—

इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही, दारुन बिपति हमहिं येहि दीन्ही।
अब जनि राम खेलावहु एही, अतिसय दुखित होति बैदेही।

रामचन्द्रजी देव-वचन सुनकर मुसकरा दिये। उन्होंने झट धनुष-बाण सुधारा और विकट युद्ध आरम्भ किया। अन्त में जब रणभूमि को कँपाता हुआ रावण का धड़ धराशायी हुआ तब भी—

सुर सुमन बरषहिं हरष सङ्कुल बाज दुन्दुभि गहगही।

जब राम सिंहसनासीन हुए थे तब भी

नभ दुन्दुभी बाजहिं बिपुल गन्धर्व किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा वृन्द परमानन्द सुर मुनि पावहीं।

कुछ लोग समझते हैं कि देवताओं की तुच्छता दिखाने के लिए ही गोस्वामीजी सदा ऐसे अवसरों की खोज में रहा करते थे जब वे रामचन्द्र की स्तुति करें, उन पर फूल बरसायें और उनके सुख और उल्लास का समय आने पर आकाश में नगाड़े बजायें तथा नाचें-गायें। वास्तव में तुलसीदास ने ऐसा करके कोई नयी बात नहीं की। उन्होंने जिन प्राचीन ग्रन्थों से राम की कथा ली थी उन सब में राम के प्रति उक्त प्रकार से ही देवताओं का व्यवहार दिखलाया गया है। स्वयं महर्षि वाल्मीकि के कथनानुसार भी देवता उपयुक्त अवसर में राम पर पुष्प-वर्षा करते थे। जब अहल्या का उद्धार हुआ और उसने राम का आतिथ्य-सत्कार किया तब

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
गन्धर्वाप्सरसां चैव महानासोत्समुत्सवः ॥

बाल०—४९—१९

अर्थात् जिस समय राम-लक्ष्मण ने पाद्य, अर्घ्य तथा अतिथि-सत्कार को शास्त्रीय विधि के अनुसार ग्रहण किया उस समय देवताओं के नगाड़े की ध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा हुई। गन्धर्व और अप्सराओं के घर (या मन में) भी बहुत बड़ा उत्सव हुआ।

अतएव एक तो गोस्वामीजी ने राम के प्रति देवताओं का आचरण परम्परा के अनुसार ही दिखलाया है, दूसरे ऐसा करके उन्होंने उनकी हेयता न दिखला कर उनसे राम की श्रेष्ठता और उनके

द्वारा राम की पूजनीयता प्रदर्शित की है। देवताओं के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने कहीं कहीं ईर्ष्या, मात्सर्य आदि दुर्गुणों का भी उल्लेख किया है। जब राम युवराज पद पर नियुक्त होने को थे तब सारे अयोध्यावासी प्रसन्नता के मारे फूले न समा रहे थे, किन्तु 'बिघन मनावहिं देव कुचाली'—कुचाली देवता मना रहे थे कि किसी प्रकार इस काम में विघ्न पड़ जाय। कारण, 'तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा'—उन्हें अयोध्या का यह उत्सव अच्छा नहीं लगता था, जैसे, 'चोरहिं चाँदिनि राति न भावा।' उन्होंने शारदा से बार-बार विनती की कि हे माता, ऐसा करो कि राम राज्य छोड़कर वन चले जायँ। शारदा उनका अनुरोध न टाल सकी, परन्तु वह यह कहती हुई गयी कि

ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती।

जिस समय राम को मनाने के लिए भरत चित्रकूट जा रहे थे उस समय सुरेश ने

गुरु सन कहेउ करिअ प्रभु सोई, रामहि भरतहि भेंट न होई।

उसकी यह पोचता देखकर गुरु बृहस्पति ने सहस्राक्ष को अन्धा समझा था और उसे राम का अपने भक्त के प्रति स्वभाव बतलाते हुए कहा था कि 'अस जिय जानि तजहु कुटिलाई।' ऐसे ही इन्द्र ने अवध-वासियों के मन में उस समय उच्चाटन कर दिया था जिस समय वे राम से विदा लेकर चित्रकूट से चलने लगे थे। तुलसीदासजी ने उस समय इन्द्र का परिचय यों दिया है—

कपट कुचालि सींव सुर राजू, पर अकाज प्रिय आपन काजू।
काक समान पाकरिपु रीती, छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।

भले ही कवि ने लिखा हो कि इन्द्र की 'सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी', किन्तु थी तो वह कुचाल ही। देवता स्वार्थ-साधन में रत रहते थे। उन्होंने राम को वनवास दिलाने का आयोजन किया; इन्द्र ने यह सोचा कि भरत राम से मिल ही न पावें और चित्रकूट में राम के समीप रहने वाले अवधवासियों के मन में उच्चाटन उत्पन्न कर दिया। यह सब देवताओं और उनके नायक इन्द्र ने अपने स्वार्थ में बाधा पड़ने की आशङ्का से किया। छल, कपट, कुचाल आदि करने में वे सामान्य मनुष्य के सदृश ही थे। उन्हें राम के महत्त्व के सामने अपने तुच्छ स्वभाव के प्रति ग्लानि भी हुई थी। रावण बध के अनन्तर राम के पास 'आये देव सदा स्वारथी' और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने स्वीकार किया था—

हम देवता परम अधिकारी, स्वारथरत प्रभु-भगति बिसारी।
भव प्रवाह सन्तत हम परे, अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे।

अर्थात् देवताओं ने मान लिया कि परम अधिकारी होते हुए भी हम स्वार्थ परायण हो गये हैं, आपकी भक्ति भुलाकर हम संसार के बहाव में बहे जा रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि देवता देवत्व-रहित तथा संसार के विषयों में लिप्त हो जाने से ही अशक्त हो गये थे। उन अशक्त देवताओं से विरक्त होकर लोग सर्व-समर्थ रघुनाथ राम की उपासना करें—इसलिए भी सम्भवतः कवि ने उनके सम्बन्ध में 'नीच करतूती,' 'कुचाली' 'सदा

स्वारथी' आदि कटु शब्दों का प्रयोग किया था। बहु-देवोपासना की असारता दिखलाते हुए रामोपासना की प्रतिष्ठा करना ही देवताओं की हेयता प्रकट करने का प्रयोजन हो सकता है। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में इसे अपने लिए तो खोलकर कह दिया है कि—

दूसरो भरोसो नाहिं, बासना उपासना को,
बासव, बिरंचि, सुर, नर, मुनि गन की।
स्वारथ के साथी, मेरे हाथ सों न लेवा-देई,
काहू तो न पीर रघुबीर दीन जन की। ७५।

अस्तु, राम का जो आदर्श उन्हें प्रस्तुत करना था उसकी पुष्टि के लिए ही उन्होंने देवताओं का यह रूप अङ्कित किया था। कहाँ राम की महानता और कहाँ देवताओं की तुच्छता! जैसे उनकी स्वार्थ-परता के कारण स्वयं तुलसी उनसे कोई प्रयोजन न रखकर राम के अनन्य उपासक हो गये थे वैसे ही मानस के श्रोता और वाचक भी हो जायँ—इसी से मानस में देवताओं का उक्त रूप दिखलाया गया प्रतीत होता है।

सिद्धान्त

गोस्वामीजी भारतीय धर्म की परम्परा के जानकार और पोषक थे। उनके मानस का उद्देश्य था कि उसके पालन में लोगों की प्रवृत्ति हो। इसी से उन्होंने श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति का पथ प्रदर्शित किया है। उहोंने जो कुछ स्वयं कहा अथवा मानस के किसी पात्र अथवा अधिकारी वक्ता से कहलाया वह तदनुकूल है।

उन्होंने राम-भक्ति का प्रतिपादन करते समय अध्यात्म-तत्त्व का जो निरूपण कराया है उसका सर्वमान्य आर्य-सिद्धान्तों से कहीं विरोध नहीं। उन्होंने कई स्थलों पर अध्यात्म-चर्चा के अवसर उपस्थित करके उन सिद्धान्तों का विवेचन कराया है। वे सिद्धान्त गोस्वामीजी को अमान्य नहीं कहे जा सकते. कारण वे श्रुति-सम्मत हैं, किन्तु हमें देखना यह है कि उनमें से कौन सा सिद्धान्त उनके विचार के अनुसार ग्राह्य और मान्य है।

उपनिषद् ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को मानते हैं। गोस्वामीजी भी कहते हैं—'सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा।' और 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा'। ब्रह्म के तत्त्व का पूर्ण रूप से निरूपण करना असम्भव है। वेद 'उसका पार नहीं पाते। वह अनुभव का विषय है, वर्णन का नहीं। उसका साक्षात्कार मन को ही हो सकता है, वाणी से नहीं कराया जा सकता—'कहि नित नेति निरूपहिं बेदा, निजानन्द निरुपाधि अनूपा।' यही निरुपाधि ब्रह्म

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल।

तात्पर्य यह कि जो ब्रह्म

'........................... अज अद्वैत अगुन हृदयेसा;
अकल अनीह अनाम अरूपा, अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा;
मनगोतीत अमल अबिनासी, निर्बिकार निरवधि गुन रासी,

है, वही देवताओं, भक्तों, पृथ्वी और गो-ब्राह्मण के हित

सगुण हो जाता है और मनुष्य रूप में प्रकट होता है। शिव ने पार्वती से कहा था—

आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा।
अस सब भाँति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान।

अर्थात् ब्रह्म का आदि और अन्त कोई नहीं जानता, फिर भी अनुमान करके उसके विषय में वेद कहते हैं कि वह पैर के बिना ही चलता है, हाथ के बिना ही कर्म करता है, जिह्वा के बिना ही रस ग्रहण करता है और बोलता है, शरीर के बिना ही स्पर्श करता है, नेत्र के बिना ही देखता और नाक के बिना ही घ्राण लेता है तथा उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस ब्रह्म का वेद और बुद्धिमान जन इस प्रकार परिचय देते और मुनिजन ध्यान करते हैं वही भक्तों के लिए दशरथ-तनय हुआ।

योग और भोग का समन्वय करने वाले विदेह जनक ने विवाह के उपरान्त राम को विदा करते समय कहा था—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा, मुनि महेस मन मानस हंसा।
करहिं जोग जोगी जेहि लागी, कोहु मोहु ममता मद त्यागी।
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी, चिदानन्दु निरगुन गुनरासी।

मन समेत जेहि जान न बानी, तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगमु नेति कहि कहई, जो तिहुँ काल एकरस रहई।
नयन बिषय मो कहँ भयउ, सो समस्त सुखमूल।
सबइ लाभ जग जीव कहँ, भएँ ईस अनुकूल।

जनक के कहने का भी तात्पर्य यही है कि जो अलख ब्रह्म मन और वाणी के लिए अगोचर है, जिसके विषय में कोई तर्क नहीं किया जा सकता, केवल अनुमान किया जा सकता है, जो सदा एकरस कहता है—निर्विकार है, जिसकी प्राप्ति के लिए ही योगी जन योग-साधन करते हैं और जिसका महिमा न बतला सकने के कारण वेद 'नेति' 'नेति'—अन्त नहीं है—कहा करते हैं वही राम हैं।

यही गोस्वामीजी का सिद्धान्त जान पड़ता है। मानस में यत्र तत्र ऐसे वचन हैं जिनसे पण्डित विविध सम्प्रदायों में मान्य सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं और गोस्वामीजी को उन सम्प्रदायों का अनुयायी ठहराते हैं। कोई कहता है कि वे अद्वैतवादी थे। अद्वैतवाद के प्रवर्तक श्री शङ्कराचार्य मानते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक रूप हैं—तत्त्वमसि तथा जो गुण ब्रह्म के हैं वही आत्मा के हैं जगत् मिथ्या है और वह माया के कारण सत्य प्रतीत होता है। शाङ्कर-सिद्धान्त के समर्थन के लिए 'मानस' से अनेक उद्धरण दिये जाते हैं। उन सबको लेकर विस्तृत विवेचन के लिए यहाँ यथेष्ट स्थान नहीं। बानगी के रूप में केवल कुछ अवतरण दिये जायँगे।

चित्रकूट में लक्ष्मण ने राम से पूछा कि—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया, कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया ।
ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ ।

इसका उत्तर देते हुए श्रीराम ने कहा कि

मैं अरु मोर तोर तै माया, जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया ।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई ।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ, विद्या अपर अविद्या दोऊ ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा, जा बस जीव परा भवकूपा ।
एक रचइ जग गुन बस जाकें, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ।
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिय सो जीव ।
बन्ध मोच्छ प्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव ।

यहाँ माया का यह अर्थ बतलाया गया कि मैं-मेरा, तू-तेरा अर्थात् अहंकार और ममता यह भेदबुद्धि माया के कारण होती है । मन और इन्द्रियों के जो विषय हैं वे सब माया हैं । माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या । अविद्या अत्यन्त दुष्ट और दुःखदायिनी है । उसी के वश में आकर जीव संसारी हो गया है, अपना ब्रह्म रूप भूल गया है । विद्या से संसार की रचना होती है । तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम—विद्या के वश में होते अवश्य हैं, किन्तु वह स्वतः कुछ नहीं कर सकती, प्रभु के बल से ही संसार की रचना करती है ।

इसी प्रकार काकभुशुण्डि ने गरुड से कहा था कि

ग्यान अखण्ड एक सीतावर, माया बस्य जीव सचराचर ।
जौं सब कें रह ग्यान एक रस ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस ।

माया बस्य जीव अभमानी, ईसबस्य माया गुनखानी।
पर बस जीव स्वबस भगवन्ता, जीव अनेक एक श्रीकन्ता।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया, बिनु हरि जाय न कोटि उपाया।

श्रीरामने काकभुशुण्डि को वरदान दे चुकने पर 'निज सिद्धान्त' सुनाते हुए कहा था—

मम माया सम्भव संसारा, जीव चराचर बिबिध प्रकारा।

कुछ विद्वान् उक्त तथा कुछ अन्य अर्द्धालियों से अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

अद्वैतवाद के प्रतिष्ठित विद्वान् मधुसूदन सरस्वती गोस्वामी जी को बहुत मानते थे। उन्होंने उनकी प्रशंसा में जो श्लोक लिखा था वह यथास्थान (पृ० २१ पर) उद्धृत किया जा चुका है। निश्चय ही दोनों महापुरुष एक दूसरे से मिलते और शास्त्र-चर्चा किया करते होंगे। सम्भव है मधुसूदन सरस्वती के विचारों का प्रभाव भी गोस्वामीजी पर पड़ा हो। फलतः उन्होंने अद्वैतवाद के पोषक कुछ सिद्धान्त स्वयं राम तथा भक्त शिरोमणि काकभुशुण्डि जैसे अधिकारियों के मुँह से कहला दिये हों।

कुछ अन्य विद्वान् गोस्वामीजी को रामानन्दजी की शिष्य-परम्परा में गिनते और उनकी रामोपासना को विशिष्टाद्वैत मत के अनुकूल सिद्ध करते हैं। विशिष्टाद्वैत मत के प्रमुख आचार्य श्रीरामानुज ने चित्, अचित् और ईश्वर ये तीन पदार्थ माने हैं। उन्होंने जीव को चित्, जगत् को अचित् और सर्वान्तर्यामी को ईश्वर कहा है। जीव और जगत् नित्य होते हुए भी ईश्वर के

अधीन हैं। जीव सच्चिदानन्द स्वरूप और ईश्वर का अंश है। जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है कि 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी, चेतन अमल सहज सुख-रासी।' और 'जीव अनेक, एक श्रीकन्ता।' अतः प्रकट होता है कि विशिष्टाद्वैत में प्रतिपादित जीव को ही गोस्वामीजी भी मानते थे।

ईश्वर के सम्बन्ध में विशिष्टाद्वैत का मत है कि वह अनन्त, दिव्य गुणों से युक्त, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द स्वरूप, षड् ऐश्वर्य पूर्ण और जगत् का कारण है। मानस से ईश्वर के इन लक्षणों के समर्थन में ये प्रमाण दिये जाते हैं—

अनन्त—यथा,

देस काल दिसि बिदिसहु माहीं, कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।

दिवय गुणों से युक्त—जैसे,

राम अमित गुन सागर, थाह कि पावै कोइ।

सर्वान्तर्यामी—यथा,

'राम उमा सब अन्तरजामी,' अथवा, 'अन्तरजामी रामसिय।'

सच्चिदानन्द स्वरूप—जैसे,

'राम सच्चिदानन्द दिनेसा'

अथवा, 'सुद्ध सच्चिदानन्द मय कन्द भानुकुलकेतु।

षट् ऐश्वर्य पूर्ण—अर्थात् ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज (ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांशतः तथा, भगच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः—विष्णु पुराण)–इन छः ऐश्वर्यों से युक्त—

यथा, (१) ज्ञान—'ग्यान अखण्ड एक सीतावर,' (२) शक्ति—'अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता', (३) बल—'मरुत कोटि सत बिपुल बल', (४) ऐश्वर्य—'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड', (५) वीर्य—'पुरुषसिंह दोउ बीर.........' तथा 'विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई' और (६) तेज—'राम तेज बल बुधि निपुनाई, सेष सहस सत सकहिं न गाई।'

जगत् का कारण अर्थात् ईश्वर जगत् की रचना का निमित्त है। यथा,

'जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई सङ्ग सहाय न दूजा।'

विशिष्टाद्वैत मत में माना जाता है कि भक्तों पर अनुग्रह करने और जगत् की रक्षा के लिए ईश्वर पाँच प्रकार के रूप धारण किया करता है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार।

'भगत, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर हित लागि कृपालु' राम के अवतार का गुणगान ही तो मानस का विषय है। आकाशवाणी के द्वारा 'प्रभु' ने सूचित भी किया था कि

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा, तुम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा, लेहउँ दिनकर बंस उदारा।
नारद बचन सत्य सब करिहउँ, परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

इस प्रकार जिन देवताओं ने 'बनचर देह धरी छिति माहीं' उन तथा भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और आदिशक्ति जानकी से वेष्टित राम ईश्वर के 'पर' रूप हैं। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उनके 'व्यूह' हैं; अवतार 'विभव' कहे जाते हैं, जिसके दो भेद

हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् अवतार मुख्य और आवेशावतार गौण कहलाते हैं। यहाँ राम साक्षात् अवतार हैं। स्वर्ग, नरक आदि सर्वत्र हृदय में सुहृद् भाव से स्थित भगवान् का स्वरूप अन्तर्यामी कहा जाता है। 'मानस' में इसका उल्लेख यों हुआ है—

ब्यापक एक ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।

अर्चावतार—देश-काल की उत्कृष्टता से रहित, आश्रित के इच्छानुसार, अर्चा करने वाले के सभी अपराधों को क्षमा करने वाले, दिव्य देहधारी, षड् ऐश्वर्य से युक्त, गृह, ग्राम, नगर, प्रदेश और पर्वत आदि में विद्यमान तथा अपने सभी कृत्यों में अर्चना करने वाले की अधीनता मानने वाले मूर्त्तधारी को अर्चावतार कहते हैं (वैष्णव मताब्ज भास्कर)। मानस में इस अर्चावतार की भी प्रतिष्ठा की गयी है। यथा,

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत वादी विद्वान् मानस में अपने सम्प्रदाय की सभी बातों का समावेश करते हैं।

ऊपर के विवेचन से यह तो विदित हो ही जाता है कि सम्प्रदाय-भावना से प्रेरित विद्वानों के विचारों के समर्थन की सामग्री जैसे ब्रह्मसूत्र और गीता में वैसे मानस में भी विद्यमान है। अतएव जैसे ब्रह्म सूत्र और गीता विविध सम्प्रदायों के पोषक ग्रन्थ हैं वैसे ही मानस को भी समझना चाहिए। मानस में अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद की झलक भले ही देखी जाय,

किन्तु गोस्वामीजी को इन अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय का अनुयायी समझना उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा मानस के ऊपर उद्धृत अंशों से सूचित होता है, वे उस निरुपाधि ब्रह्म के पुजारी थे जिसे वेदों में नेति कहा गया है, अर्थात् जिसका रूप मन और वाणी के लिए अगोचर है; किन्तु जो भक्त और लोक के कल्याण के लिए राम के रूप में अवतरित हुआ था। गोस्वामी जी का यही सिद्धान्त 'मानस' में सर्वत्र प्रदर्शित हुआ ही है। 'विनय-पत्रिका' में तो और भी खुल गया है। वे कहते हैं—

छ-मत बिमत, न पुरान मत, एक मत,
नेति नेति नेति नित निगम कहत।
औरनि की कहा चली? एकै बात भलै भली,
राम-नाम लिये तुलसी हूँ से तरत। ३५१।

तात्पर्य यह कि छओं शास्त्रों के सिद्धान्त एक-दूसरे से भिन्न हैं, अठारहों पुराण भी एक-सी नहीं कहते और वेद तो कुछ कहते ही नहीं, बस 'नेति' कह कर चुप हो जाते हैं। (इस प्रकार जब शास्त्र, पुराण और वेद ही ईश्वर के निश्चित रूप का ठीक बोध नहीं करा सकते) तब औरों की शक्ति ही क्या? (दूसरे ईश्वर के विषय में बतला ही क्या सकते हैं?) मेरी समझ में तो एक ही बात अच्छी लगती है। वह यह कि तुलसी सरीखे लोग भी राम-नाम लेने से (संसार से) मुक्त हो जाते ।

गोस्वामीजी ने शास्त्र, पुराण आदि में वर्णित किसी सिद्धान्त

की निन्दा नहीं की, किन्तु उसे स्वीकार भी नहीं किया। वे कह गये हैं कि

बहु मत सुनि बहु पन्थ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लागत राज-डगरो सो।१७३।

इससे प्रकट होता है कि उन्होंने विविध मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्त जानने और पुराणों के अध्ययन और विवेचन के पश्चात् यही निश्चय किया कि उस सब में झगड़ा ही झगड़ा है। उनके मत से तो राज-मार्ग के समान राम का भजन ही सर्व साधारण के लिए सुगम और सुलभ धर्म है। यही धर्म है जिसका उपदेश उन्हें गुरु से मिला था। 'मानस' में गुरु के मुख से बार-बार राम-कथा सुनने का उल्लेख उन्होंने किया ही है।

अपना यह विचार उन्होंने विनय-पत्रिका में अन्यत्र भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

करम, उपासन, ग्यान, बेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहिं तो सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रङ्ग हरो।
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो।२२६।

सच है कर्म, ज्ञान और उपासना वैदिक मत हैं। ये सभी ठीक हैं, परन्तु जैसे सावन के अन्धे को सर्वत्र हरा-हरा ही दिखलायी पड़ता है वैसे ही तुलसी के लिए राम नाम के दो अक्षर ही सर्वस्व थे। उन्हें उन्होंने उसी दृढता से पकड़ लिया था जिस दृढता से बालक किसी चीज को लेकर अड़ जाता है। जिस प्रकार बच्चा किसी प्रकार भी अपनी पकड़ी हुई वस्तु

को छोड़ने के लिए उद्यत नहीं होता चाहे उसे बदले में उससे बढ़िया वस्तु ही क्यों न दी जाय, उसी प्रकार तुलसीदास भी किसी भी सम्प्रदाय वा विचार के बदले में राम-भक्ति का विनिमय नहीं करना चाहते थे। इसी से उन्होंने खुलकर कह दिया है कि

ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं।११६।

इसी लिए उन्होंने यह प्रार्थना की थी—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस बिस्वास भरोसो, हरौ जीव जड़ताई।१०३।

'दोहावली' में उनका यह दृढ विश्वास इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

एक भरोसो, एक बल, एक आस, बिस्वास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक-तुलसीदास।

तभी उन्होंने वेद-वर्णित सभी उपायों और पुराण-कथित अन्य सभी देवताओं को छोड़कर एक मात्र राम को इस प्रकार आत्म-समर्पण कर दिया था—

हैं स्रुति बिदित उपाय, सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।

—विनय०—१०२

और स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया था कि

देस काल पूरन सदा, बद बेद-पुरान।
सबको प्रभु सब में बसै सबकी गति जान।
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, सङ्कर जेहि सेव।

विनय-पत्रिका ही नहीं अन्य ग्रन्थ भी गोस्वामीजी के इन्हीं विचारों के पोषक हैं। इससे उनको किसी सम्प्रदाय की बँधी हुई सीमा के भीतर घेर रखना उचित नहीं। वे तो किसी सँकरी गली पर न चलकर राज मार्ग पर चलना चाहते थे। उन्होंने 'मानस' में कलियुग में 'कल्पहिं पन्थ अनेक' कहकर नये नये सम्प्रदाय चलाने वालों के द्वारा होने वाले अनिष्ट का सङ्केत किया था. फिर भला वे स्वयं किसी सम्प्रदाय विशेष की अनुदार और सङ्कुचित दृष्टि से देखने की भूल कैसे कर सकते थे? क्या अब भी उनके सिद्धान्त को स्वीकार करने में आनाकानी होगी? उचित तो यही है कि उनका ही कहना माना जाय। 'विनय पत्रिका' में प्रसिद्ध पद है 'केसव कहि न जाय का कहिए'। उसमें सृष्टि के रचना-चातुर्य का दार्शनिक ढङ्ग से वर्णन किया गया है। उसी में कहा गया है कि

कोउ कह झूठ, सत्य कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।

अर्थात् केशव की विचित्र सृष्टि-रचना को कोई सत्य कहता है, कोई मिथ्या और कोई उसमें सत्य और मिथ्या दोनों का का मिश्रण पाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैतवादी इस संसार को मिथ्या अथवा कोरा भ्रम समझते हैं। वे ब्रह्म की सत्ता और उसी में जगत् का आभास मानते हैं। जैसे रस्सी को साँप समझ लिया जाता है, परन्तु वह साँप नहीं होती, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म की माया के कारण सत्य समझ पड़ता है, परन्तु सत्य होता नहीं। ज्ञान हो जाने पर वह माया दूर हो जाती

है और जगत् की असारता प्रकट हो जाती है। विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत सिद्धान्त मानने वाले जगत् को सत्य मानते हैं। द्वैताद्वैतवादी उसको सत्य और असत्य दोनों मानते हैं। परन्तु तुलसीदास इन तीनों सिद्धान्तों को भ्रम समझते हैं और कहते हैं कि जो इन तीनों को भ्रमपूर्ण समझ कर राम की शरण में आयेगा वही आत्मज्ञानी होगा, अपने को समझ सकेगा। अस्तु, हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि तुलसीदास वेदों में 'नेति' कह कर निरूपित ब्रह्म के सगुण रूप राम के ही उपासक थे। तभी उन्होंने सुमति द्वारा ध्रुव को दी हुई शिक्षा को आदर्श माना है और कहा है कि

इहै कह्यो सुत बेद नित चहूँ।
श्री रघुबीर चरन चिन्तन तजि नाहिंन ठौर कहूँ। ८६।

ज्ञान और भक्ति का समन्वय

उपर्युक्त विवेचन से गोस्वामी तुलसीदास का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। वे राम-भक्ति को ही एकमात्र साध्य मानते थे। काकभुशुण्डि के द्वारा उनका यह विश्वास सूचित होता है कि

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना, एक अधार राम गुन गाना।
सब भरोस तजि जो भज रामहिं, प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं, नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।
कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल, भव तर बिनहिं प्रयास॥

इसी लिए उन्होंने लिख दिया कि

वेद पुरान सन्त मत एहू, सकल सुकृत फल राम-सनेहू।
राम नाम कलि अभिमत दाता, हित परलोक लोक पितु माता।
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू, राम नाम अवलम्बन एकू।

अतएव उन्होंने मानस में राम-भक्ति का प्रतिपादन किया—यह हम देख चुके हैं। गोस्वामीजी राम के अनन्य भक्त अवश्य थे, किन्तु वेद-शास्त्र द्वारा प्रवर्त्तित आध्यात्मिक विचारों से विरोध नहीं मानते थे। इसलिए उन्होंने ज्ञान मार्ग की निन्दा नहीं की। हाँ, एक काम अवश्य किया। जिन दिनों उनका आविर्भाव हुआ था उन दिनों उनके कार्य-क्षेत्र में निर्गुण उपासना का बोलबाला था। इसी से सभी सगुणोपासक भक्तों को सर्व साधारण के लिए निर्गुणोपासना की अव्यावहारिकता, जटिलता और कठिनता प्रदर्शित करनी पड़ी। तभी कृष्ण भक्त सूर और नन्ददास ने भ्रमरगीत के प्रसङ्ग में भी ज्ञानमार्ग का खण्डन तथा भक्ति मार्ग का मण्डन किया। इस प्रकार उनका भ्रमरगीत श्रीमद्भागवत में वर्णित उद्धव-गोपी-मिलन के समान प्रेम और विरह का शुद्ध निदर्शन नहीं रहा, प्रत्युत ज्ञान और भक्ति का विवाद बन गया है। ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदास ने मिथ्या ज्ञान के अभिमान के कारण उत्पन्न मोह रूपी मानसिक अन्धकार को दूर करने के लिए दिनकर की किरणों के समान राम के गुण-ग्राम का वर्णन किया—'हरन मोहतम दिनकर कर से'। गोस्वामीजी कृत इस भक्ति-निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान की महत्ता स्वीकृत हुई है, साथ ही यह बतलाया गया है कि वह सुगम न होने से अव्यवहार्य है। इस प्रकार ज्ञान की

अप्रतिष्ठा नहीं हुई, किन्तु भक्ति की प्रतिष्ठा की गयी है।—'पायेहु ग्यान भगति नहिं तजहीं।' गोस्वामीजी ने यह काम साधारण उपदेशक के रूप में नहीं किया। सच्चे कवि होने के कारण उन्होंने आख्यान के बीच में भक्ति और ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध और दोनों का सापेक्ष्य महत्त्व दिखलाया है। जब राम ने काकभुशुण्डि से वरदान माँगने को कहा कि

ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना, मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।
आजु देउँ सब संसय नाहीं, मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

तब भुशुण्डि ने जो सोचा वह ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ, मन अनुमान करन तब लागेउँ।
प्रभु कह देन सकल सुख सही, भगति आपनी देन न कही।
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे, लवन बिना बहु बिंजन जैसे।

यह सोचकर भुशुण्डि ने यह वरदान माँगा कि

अबिरल भगति बिसुद्ध तव, स्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपा सिन्धु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहिं प्रभु, देहु दया करि राम॥

इस विवरण से यह प्रकट है कि काकभुशुण्डि की समझ में भक्ति के बिना सब गुण और सुख व्यर्थ हैं और उसके सामने ज्ञान नीरस है। आगे चलकर रामचन्द्र ने भुशुण्डि के इच्छानुसार 'एवमस्तु' कहा, उसकी चतुराई पर प्रसन्नता प्रकट की और फिर कहा—

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें, सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें।

भगति ग्यान बिग्यान बिरागा, जोग चरित्र रहस्य बिभागा।
जानब तैं सबही कर भेदा, मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि काकभुशुण्डि को भक्ति के साथ ही ज्ञान-विज्ञान का रहस्य भी प्राप्त हुआ। अतएव यह स्पष्ट है कि भक्ति और ज्ञान में परस्पर विरोध नहीं। हाँ, ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ अवश्य है। यह बात श्रीराम ने भुशुण्डि से और भी खुले शब्दों में कही थी—

मम माया सम्भव संसारा, जीव चराचर बिबिध प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाये, सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी, तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी, ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा, जेहि गति मोरि न दूसर आसा।

श्रीमुख से कही गयी इस उक्ति में सृष्टि के प्राणियों में मनुष्य को लिया गया है और उसमें सापेक्ष्य दृष्टि से श्रेष्ठता स्थापित की गयी है। मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में वेदज्ञ, वेदज्ञ ब्राह्मणों में वैदिक धर्म का अनुयायी, वैदिक धर्माचारियों में विरक्त, ऐसे विरक्तों में ज्ञानी, ज्ञानियों में विज्ञानी और विज्ञानियों में भी भक्त भगवान् को प्रिय होता है। इस प्रकार भक्त को ज्ञानी से ऊपर दूसरा स्थान मिला है। ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता उस समय भी प्रकट हुई थी जिस समय लोमश ऋषि के निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश की उपेक्षा करके अभिशप्त ब्राह्मण कुमार ने काकभुशुण्डि होने में हर्ष का ही अनुभव किया था और फिर उन्हीं से राम के बाल-रूप के

ध्यान की विधि और राम-मन्त्र प्राप्त किया था।

काकभुशुण्डि ने गरुड के पूछने पर ज्ञान और भक्ति का जो अन्तर बतलाया था उसमें इनके विषय में गोस्वामीजी के विचार निहित हैं। काकभुशुण्डि ने तुरन्त कह दिया था कि

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

अर्थात् ज्ञान और भक्ति दोनों ही जीव को संसार के आवागमन से मुक्त करने के साधन हैं। उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसके अनन्तर काकभुशुण्डि ने मुनीशों के विचार बतलाये कि ज्ञान, विज्ञान, योग और वैराग्य पुरुषवत् हैं। माया को नारी समझो। पुरुष नारी पर मोहित होकर अपने को भूल जाता है। ज्ञान विज्ञान आदि माया के चक्कर में आ जाते हैं। परन्तु भक्ति भी नारी है। वह रघुवीर की प्रिया है और माया नर्तकी ठहरी। नारी नारी पर मोहित नहीं होती। अतएव भक्ति माया के मोह-जाल में नहीं फँस सकती। फिर राम तो भक्ति के अनुकूल रहते हैं। इससे माया उससे डरती भी रहती है। अतएव जिसके हृदय में भक्ति रहती है उसे देखकर माया सकुचा जाती है और उस पर अपनी प्रभुता नहीं दिखला सकती। इस प्रकार ज्ञानी को माया के भुलावे में आ जाने की आशङ्का बराबर बनी रहती है, किन्तु भगवत्कृपा से भक्त को उसका भय नहीं रहता। स्वयं भगवान् ने नारद से कहा था कि

सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा, भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिन्हकै रखवारी, जिमि बालक राखै महतारी।
मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी, बालक सम सुत दास अमानी।

जनहिं मोर बल, निज बल ताही, दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।
यह बिचारि पण्डित मोहि भजहीं, पायेहु ग्यान भगति नहि तजहीं।

अस्तु, यह खुल गया कि भक्ति से अमानित्व, निरभिमान, सारल्य आने के कारण भगवदार्पण बुद्धि सहज ही उत्पन्न हो जाती है, और ज्ञान से अभिमान, अहंभाव और आत्म-निर्भरता आती है, जिससे मनुष्य ईश्वर को भूल भी सकता है। तभी भक्त की चिन्ता भगवान् को रहती है, किन्तु ज्ञानी की देख रेख करने वाला कोई दूसरा नहीं होता, वह स्वयं ही रहता है।

ज्ञान मार्ग में विघ्न भी बहुत होते हैं। जीव ईश्वरांश होते हुए भी माया के कारण अपना चेतन रूप भूल जाता है। उसमें जडत्व आ जाता है। यद्यपि जडत्व मिथ्या होता है, फिर भी उससे छुटकारा पाने के लिए वेदों और पुराणों में जो उपाय बतलाये गये हैं उनसे उस जडता रूपी गाँठ का सुलझना तो दूर रहा, वह अधिकाधिक उलझती ही जाती है। अज्ञान के अन्धकार में पड़ा जीव उस गाँठ के खोलने में असमर्थ हो जाता है। कभी भगवान् की कृपा से मन में सात्विक श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है, जप, तप, व्रत, यम, नियम आदि का पालन होता है। इसके फलस्वरूप हृदय में सद्भाव उत्पन्न होते हैं। तब लौकिक विषयों से मन हट जाता है। इससे मन निर्मल हो जाता है। फिर धर्म का उदय होता है। उस पर निष्काम रूप से आचरण किया जता है। फलतः सन्तोष, क्षमा, धैर्य, मुदिता* दम और

*योग शास्त्र के अनुसार चित्त की वह वृत्ति जिसमें किसी को पुण्य करते देख मनुष्य को स्वयं अधिक प्रसन्नता होती है।

सत्य के द्वारा वैराग्य उपलब्ध होता है। तब शुभ और अशुभ कर्मों को त्यागकर योग के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। उससे ममता मिट जाती है। इससे विज्ञान होता है। तदनन्तर चित्त में समता लायी जाय। फिर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण निकाल कर तुरीयावस्था की उपलब्धि हो। इस अवस्था के आने पर मद आदि पास न फटक सकेंगे। पास आते ही वे स्वयं नष्ट हो जायँगे। तुरीयावस्था में सोऽहम् वृत्ति का प्रकाश होगा। उस प्रकाश से आत्म-बोध होगा, जिससे मैं-तू, ईश्वर-जीव आदि भेद-भाव मिट जायँगे। अविद्या के साथी मोह आदि अन्धकार इस आत्म-ज्योति के उदय होते ही दूर हो जाते हैं। इसी के प्रकाश में बुद्धि उस अज्ञान की गाँठ को सुलझाती है। जब गाँठ खुल जाती है तभी जीव कृतार्थ होता है। आत्मबोध की इस दशा में बड़ी बाधाएं पड़ती हैं। यौगिक शक्तियों के उत्पन्न होने पर ऋद्धि-सिद्धि आती हैं। उनकी ओर मन नहीं जाता, तब विविध इन्द्रियों के विषय घेरते हैं। इनसे आत्मज्योति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार जीव फिर माया के फन्दे में फँस जाता है। यह है 'मानस' कथित ढङ्ग से ज्ञान का दुरूह मार्ग। बड़ी कठिनाइयों को झेलने के अनन्तर ही कहीं इसका अन्त होता है। तब कैवल्य उपलब्ध होता है।

इस दुस्तर ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति का साधन कहीं सुगम है। भक्ति भगवत्कृपा से प्राप्त होती है। उस पर मोह, लोभ, काम आदि का प्रभाव नहीं पड़ता। उसके आते ही अविद्या

दूर हो जाती है। अतएव ज्ञान के समान भक्ति कष्ट-साध्य नहीं है। इसी से गोस्वामीजी ने काकभुशुण्डि से कहलाया है कि जो इस रामभक्ति रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं वे चतुरों में शिरोमणि हैं—'चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं, जे मनि लागि सुजतन कराहीं।' वेद-पुराण में राम-कथा का भाण्डार है। उसमें सज्जन सुमति की सहायता से, ज्ञान और विज्ञान के द्वारा भाव-पूर्वक उस भक्ति को खोजते हैं। तब वह सरलता से मिल जाती है।

मानस के सातवें सोपान में काकभुशुण्डि ने ज्ञान-दीपक और भक्ति-चिन्तामणि के विशद परम्परित रूपकों के द्वारा ज्ञान और भक्ति मार्ग के अन्त तक पहुँचने का चित्र अङ्कित किया है। उन्हीं रूपकों का आलङ्कारिक रूप हटाकर साधन की प्रणाली का वर्णन ऊपर कर दिया गया है। इसमें गोस्वामीजी के प्रतिपादित भक्ति मार्ग की सुगमता स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सरल है, परन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है—'भव सम्भव खेद' को दूर करना। इससे दोनों में कोई भेद न समझना चाहिए—यही गोस्वामीजी के विचार थे। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में तो इन दोनों का ऐसा सुन्दर गठबन्धन कर दिया है कि देखते ही बनता है। वे संसार सागर में डूबने से बचाने के लिए कर-कमल का सहारा माँगते हुए कमला-रमण से कहते हैं कि—

ग्यान-अवधेस गृह, गेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभार-हरता।

।५८।

अर्थात् जिस प्रकार आपने अवधेश दशरथ की गृहिणी

कौशल्या के गर्भ से अवतार लिया था उसी प्रकार अब ज्ञान के क्षेत्र में भक्ति के द्वारा प्रकट होइए। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति का चिर सम्बन्ध स्थापित कर गोस्वामीजी ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया और अध्यात्म सम्बन्धी भारतीय विचारों में ऐक्य स्थापित किया है।

भक्ति का स्वरूप

नवधा भक्ति प्रसिद्ध ही है—

श्रवणं कीर्त्तनं चैव स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

गोस्वामीजी ने भक्ति के इन भेदों में कुछ परिवर्तन करके श्रीराम के द्वारा शबरी से 'नवधा भक्ति' का यह रूप कहलाया था—

प्रथम भगति सन्तन्ह कर सङ्गा. दूसरी रति मम कथा प्रसङ्गा।
गुरुपद पङ्कज सेवा. तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन. करइ कपट तजि गान।
मन्त्र जाप मम दृढ बिस्वासा, पञ्चम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरति बहु करमा, निरत निरन्तर सज्जन धरमा।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा, मोतें अधिक सन्त कर लेखा।
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा, सपनेहु नहिं देखइ परदोषा।
नवम सरल सब सन छल हीना, मन भरोस हिय हरष न दीना।

यदि ध्यान से देखा जाय तो भक्ति के ये रूप भक्त के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के नौ सोपान हैं, जिन पर चढ़ता हुआ वह आत्मोन्नति के लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

सन्तों के सत्सङ्ग से मन भगवान की ओर झुकता है। फलस्वरूप भगवान की कथा के प्रति सम्मानभाव और बाद में प्रेम का उदय होता है। इसके अनन्तर साधक निरभिमान होकर गुरु की सेवा में लगता और उसके द्वारा भगवत्तत्त्व प्राप्त करता है। भगवान् का तत्त्व जान जाने पर भक्त उसके गुणों का कीर्त्तन करने लगता है। इस प्रकार वाणी पवित्र होती है और मन पर भगवदीय संस्कार जम जाते हैं। तब उसका विश्वास दृढ हो जाता है और वह मन्त्र जाप तथा भजन में लग जाता है। अब आचरण में भक्ति ढल जाती है। नाना कर्मों से मन हट जाता है। वह सज्जनोचित कर्मों में ही लगा करता है। तदनन्तर प्रभु की व्याप्ति का अनुभव होने लगता है। भक्त आपा मिटाकर सर्वत्र अपने प्रभु को ही देखता है। उसे सब जग सीयराम-मय दिखलायी पड़ता है। श्रीराम ने हनुमान से अपने अनन्य भक्त का लक्षण भी कुछ ऐसा ही बतलाया है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

फलतः भक्त 'निज प्रभु मय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध।' सब से प्रेम करने लगता है। किसी के दोष नहीं देखता। मन की वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। यथा लाभ सन्तोष हो जाता है। अब मानसिक विकास का चरमोत्कर्ष होता है। व्यवहार में सरलता आ जाती है। छल-कपट नहीं रह जाता। 'दोहावली' में गोस्वामीजी ने राम-भक्ति का परिणाम यही बतलाया भी है—

सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति ॥

भक्त अपने प्रभु पर अटल विश्वास करने लगता है। हृदय से दीनता दूर हो जाती है। वह हर्षमय हो जाता है। इसी अन्तिम 'अभय' की दशा में रहने की शिक्षा रामचन्द्रजी ने लंका से विदा करते समय वानरों को दी थी—'सुमिरेहु मोहिं, डरपेहु जनि काहू।'

इस प्रकार भक्त का व्यवहार लोक-बाह्य नहीं होता, वह लोक के लिए कल्याणप्रद और अनुकरणीय होता है।

गोस्वामीजी के मतानुसार दास्य भक्ति ही उचित है। काक-भुशुण्डि ने भी इसी का समर्थन किया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

तुलसीदासजी ने मित्रता के सम्बन्ध में लिखा है कि छोटे या बड़े से मित्रता होनी उचित है, बराबर वाले से अनुचित है—

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस, मिले महा विष होइ। दोहा० ३२३।

यह दोहा उनकी दास्य भक्ति का समर्थन करता जान पड़ता है। उनकी समझ में सम-सनेह—सख्य भक्ति—उपयुक्त नहीं प्रतीत होती।

काव्य-सौष्ठव

प्रबन्ध-पटुता

मानस में कवि ने राम-चरित का चित्रण करते समय प्रबन्ध-

निर्वाह में जो पटुता प्रदर्शित की है वह स्तुत्य है। रामावतार के प्रयोजन जिस क्रम से बतलाये गये हैं उनमें कथानक के विकास की उपयुक्त योजना निहित है। आरम्भ में जय-विजय. कश्यप-अदिति और जलन्धर की कथाओं का सङ्केत करके रामावतार के प्रयोजन का उल्लेख मात्र हुआ है। फिर नारद के मोह और उनके दिये गये शाप का विस्तृत विवरण दिया गया है। उसमें नारद के वचनों की रक्षा के निमित्त विष्णु के नर रूप धारण करने की सूचना मिलती है। फिर मनु और शतरूपा की तपस्या की सिद्धि और प्रभु को पुत्र रूप में पाने की वर-याचना का मनोरम वर्णन है। इस प्रकार भगवान के नर रूप में और फिर दशरथ-कौशल्या के पुत्र के रूप में अवतार लेने के लिए प्रतिश्रुत हो जाने के अनन्तर रावण के आविर्भाव की कथा कही जाती है। प्रतापभानु की अमरता की अभिलाषा उसे ले डूबी। वह ब्राह्मणों के शाप से राक्षस रावण के रूप में उत्पन्न हुआ। अब प्रबन्ध काव्य की बड़ी ही प्रभावशालिनी भूमिका प्रारम्भ होती है। रावण के अत्याचार से पृथ्वी के त्रास और उसका निवारण करने में देवताओं के असामर्थ्य का जीता-जागता रूप सामने आता है। इस प्रकार पहले राम के प्रकट होने के प्रयोजन बतला कर फिर उनके अवतार लेने के समय लोक की स्थिति का भीषण चित्र अङ्कित करके कवि ने दिखलाया कि उस परिस्थिति में राम का आविर्भाव कितना उपयुक्त था। राम के अवतरण के लिए वनचर देहधारी देवताओं की जो उत्सुकता सूचित की गयी है उसे लोक-रावण रावण के अत्याचार से ऊबे हुए विश्व की राम के स्वा-

गतार्थ उत्कण्ठा का प्रतीक समझना चाहिए। राम के आविर्भाव के लिए विश्व ही नहीं कुछ व्यक्ति भी लालायित थे। चौथेपन तक सन्तति का मुँह न देख सकने के कारण अयोध्या के स्वामी दशरथ ग्लानि से भरे हुए थे। वे ही नहीं, अपने राजा के दुःख सुख के समभागी प्रजाजन भी राम के आगमन के मार्ग में अपने पलकों के पाँवड़े बिछाये बैठे थे। इस प्रकार परिवार, पुर और लोक को राम के स्वागत के लिए प्रस्तुत करके तुलसीदास ने उनके जन्म लेने के समय के आनन्द और उत्सव का विशद वर्णन करके रामचरितमानस की कथा प्रारम्भ की है। ऐसे प्रभावोत्पादक और रोचक ढङ्ग से जो कथानक उठाया गया है उसका सम्यक् रीति से अन्त तक निर्वाह हुआ है। कहीं भी कोई ऐसा प्रकरण नहीं आया जो भरती का कहा जा सके अथवा जिसके प्रवाह में कहीं रुकावट दिखलायी पड़ती हो। इसका एकमात्र कारण यह है कि तुलसीदास जी जानते थे कि कथा की रोचकता बनाये रखने के लिए क्या आवश्यक होता है और क्या अनावश्यक। उन्होंने समस्त आवश्यक प्रसङ्गों को ग्रहण किया और सभी अनावश्यक बातों को त्याग दिया। साथ ही वे यह भी जानते थे कि किसी आवश्यक बात का किस रूप से और कितना वर्णन किया जाय जिससे वह श्रोता अथवा पाठक के मन को अच्छा लगता रहे, अधिक हो जाने से उसके मन को बुरा न लगने लगे अथवा उबाने न लगे। इसलिए उन्होंने कथा का वही अंश विस्तार से सुनाया जिसमें जीवन के मर्म छिपे रहते हैं और जिनका उद्घाटन लोगों को रुचिकर प्रतीत होता है। इसी से रामचरित-

मानस में उन्हीं स्थलों पर कुछ जमकर कथा चली है जिनको सुन वा पढ़ कर लोगों की उत्सुकता बढ़ती है। ऐसे स्थलों में कुछ हैं—राम लक्ष्मण का जनकपुर-दर्शन, फुलवारी में राम-सीता का प्रथम साक्षात्कार, धनुष-यज्ञ, राम-विवाह, राम-वन-गमन, भरत-राम का मिलन, सीता-हरण के समय राम का विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर उनका प्रलाप, राम-रावण का तुमुल संग्राम और राम-राज्य का प्रभाव। इनमें से कुछ तो गार्हस्थ्य जीवन के ऐसे प्रसङ्ग हैं, जो पुरातन होते हुए भी चिर नवीन रहते हैं और कुछ जीवन की भीषण स्थितियों से मानव के चिरन्तन सङ्घर्ष के उत्कृष्ट चित्र होने के कारण सदा आकर्षक रहेंगे। धनुष-यज्ञ के समय जनकपुर में 'दीप दीप के भूपति' एकत्र हुए थे, किन्तु राम के सौंदर्य ने सर्वत्र मोहिनी डाल दी थी। 'सहज विरागी' जनक उसे देखते ही स्तब्ध रह गये थे, पुरवासी उसे देखने के लिए 'धाम काम सब त्यागी' 'लोचन-फल' पाकर सुखी होते थे, नारियाँ उसे देखकर उसके निरूपण में मग्न हो जाती थीं, बालक उससे आकृष्ट होकर निकट आते और राम को अपने-अपने घर ले जाते थे। इसी लावण्य की पहली झलक लता-मण्डप की ओट से देखकर सीता 'रामहि उर आनी' 'पलक-कपाट' बन्दकर ध्यान मग्न हो गयी थीं। फिर राम को सम्मुख देख कर उनकी मानसिक दशा क्या हुई थी इसका उद्घाटन न करके कवि ने पाठक की कल्पना और उत्सुकता को खुलकर खेलने का अवसर प्रदान किया है। सीता और राम के इस मिलन में प्रेम का बीजारोपण हुआ। धनुष-यज्ञ में सभी राजाओं, मनुज

रूप-धारी देवों और दनुजों एवं रावण तथा बाण जैसे महाभटों की असफलता के पश्चात् राम के अनायास ही धनुष तोड़ने पर उनकी शक्ति का प्रदर्शन हुआ। यह सिद्ध हो गया कि वे सचमुच 'बड़ प्रभाव, देखत लघु अहहीं'—देखने में ही छोटे हैं, परन्तु हैं बड़े ही शक्तिशाली। तदनन्तर सारी सभा को केवल टेढ़ी आँख से देखकर त्रस्त करने वाले परशुराम को अपनी गम्भीरता से नतमस्तक कराने पर राम के बल का सिक्का जम गया। इस प्रकार सीता के प्रेम का आधार अनन्त सौन्दर्य का ही नहीं, अपरिमित शक्ति का भी आधार सिद्ध हुआ और वह आधार उस अलौकिक प्रेम का उपयुक्त पात्र बना। इसी प्रकार लक्ष्मण-परशुराम का संवाद भी निर्भय बालक और पुराने पुरुषार्थ की डींग मारने वाले अशक्त ब्राह्मण देवता की नोक-झोंक का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है। जिस समय राम के युवराज-पद पर प्रतिष्ठित होने की योजना में लगे हुए अयोध्या-वासी सुख की नींद में सो रहे थे, उसी समय अनाशातीत रूप से उनको चौदह वर्ष के लिए वन जाते देखकर करुणा का सागर उमड़ आया। उसमें सभी बह चले। भरत का विषाद, चित्रकूट में उनके आचरण का उत्कर्ष और फिर उनके त्याग और तप से पूर्ण कर्मठ जीवन की झलक किसका मन नहीं मोह लेती? जिस सीता ने दशरथ-कौशल्या जैसे श्वसुर-सास के बहुतेरा समझाने पर भी पति के लिए अपने आप वनवास अपनाया उसके अपहरण के समय राम की विरहाकुलता की स्वाभाविकता दर्शनीय है। ऐसे ही, जिस भाई लक्ष्मण ने वन में भी साथ न

विक, परन्तु दिव्य वर्णन के लिए आदर्श है। वहाँ सीता को राम के आगमन की सूचना बड़े ही स्वाभाविक ढङ्ग से मिलती है।

एक सखी सिय सङ्ग बिहाई; गई रही देखन फुलवाई।
तेइ दोउ बन्धु बिलोके जाई, प्रेम बिबस सीता पहिं आई।
तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन॥
देखन बाग कुअँर दुइ आये, बय किसोर सब भाँति सुहाये।
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।
सुनि हरषीं सब सखी सयानी, सिय हियँ अति उत्कण्ठा जानी।
एक कहइ नृप सुत तेइ आली, सुने जे मुनि सँग आये काली।
जिन्ह निज रूप मोहनी डारी, कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू, अवसि देखिअहिं देखन जोगू।
तासु बचन अति सियहि सोहाने, दरस लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखै न कोई।

इधर से जानकीजी राम की ओर बढ़ीं और उधर फूल चुनते समय, अपनी ओर उनके आने के कारण

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही, मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये बिलोचन चारु अचञ्चल, मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।

फिर कुछ देर तक मन में जानकी के सौन्दर्य के विषय में सोचते रहे कि

जनु बिरञ्चि सब निज निपुनाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि जनाई।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई।

इसके पश्चात् वे अपने मन के भाव खुले शब्दों में लक्ष्मण से बतलाने लगे। उधर

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोरा मनु चिन्ता।
जहँ बिलोक मृग सावक नैनी, जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी।
लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखें, पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें।
अधिक सनेह देह भै भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।

इसी समय

लता भवन तें प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाई।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ॥

सोभा सींव सुभग दोउ बीरा, नील पीत जलजाभ सरीरा।
मोर पङ्ख सिर सोहत नीके, गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।
भाल तिलक स्रमबिन्दु सुहाये, स्रवन सुभग भूषन छबि छाये।
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे, नव सरोज लोचन रतनारे।
चारु चिबुक नासिका कपोला, हास बिलास लेत मनु मोला।
मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं, जो बिलोकि बहु काम लजाहीं।
उर मनि माल कम्बु कल ग्रीवा, काम कलभ कर भुजबल सींवा।

केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानु कुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥

उधर ध्यान-मग्ना सीताजी से किसी सखी ने कहा कि "बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप किसोर देखि किन लेहू। तब तो वे आँखें भर कर राम को देर तक देखती रहीं। जब सखियों ने विलम्ब होते देखा तब कोई बोली 'पुनि आउब एहि बिरियाँ काली।' अब सीता को वहाँ से चलना ही पड़ा। परन्तु वहाँ से चलकर भी

देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

प्रबन्ध काव्य में नायक और नायिका के प्रथम मिलन का ऐसा शिष्ट और साङ्गोपाङ्ग चित्रण तुलसी ही कर सकते थे। जिस समय भरत चित्रकूट पहुँचकर मन्दाकिनी के तट पर सब लोगों को छोड़ कर शत्रुघ्न और गुह के साथ राम से मिलने जा रहे थे उस समय उनके मन का सजीव चित्र देखिए—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं, करत कुतरक कोटि मन माहीं।
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ, उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।
मातु मते महुँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर॥
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी, जौं सनमानहिं सेवकु मानी।
मोरें सरन रामहि की पनही, राम सुस्वामि दोसु सब जनही।
जग जस भाजन चातक मीना, नेम पेम निज निपुन नवीना।
अस मन गुनत चले मग जाता, सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी, चलत भगति-बल धीरज-धोरी।
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ, तब पथ परत उताइल पाऊ॥

भरत-दसा तेहि अवसर कैसी, जल प्रवाहँ जल-अलि गति जैसी।

यहाँ भरत का अन्तर्द्वन्द्व और राम के प्रति अटल अनुराग कैसा खोलकर रख दिया गया है। वे सोचते हैं कहीं राम मेरा नाम सुनते ही अन्यत्र तो न चले जायँगे। माता का मतानुयायी समझ वे जो करें वह थोड़ा होगा. परन्तु अपनी ओर देखेंगे तो उदारता से मुझे क्षमा कर ही देंगे। चाहे छोड़ें, चाहे रखें, मैं तो राम की ही शरण में हूँ। राम स्वामी ठहरे, दोष तो सेवक में होता है। मेरे तो आदर्श चातक और मीन हैं, जिनका अटल नेम और अविचल प्रेम सदा नया बना रहता है, भले ही मेघ वा जल उन्हें उसका बदला न दें। माँ की की हुई बुराई का ध्यान उन्हें आगे बढ़ने से रोकता था, किन्तु भक्ति का बल आगे बढ़ाता था। और जब राम का स्वभाव स्मरण आता था, तब वे विह्वल हो जाते थे। उनके पैर लटपटाने लगते। उनकी दशा पानी के भौंर की-सी हो रही थी।

प्रकृति के पारखी तुलसी ने मानसिक दशाओं के न जाने कितने ऐसे ही मार्मिक चित्र अङ्कित किये हैं। 'मानस' उनसे भरा पड़ा है। उन्होंने प्रकृति की सुषमा आँख भर कर देखी थी। पम्पा सरोवर का प्रतिबिम्ब इस प्रकार झलका दिया है—

बिकसे सरसिज नाना रङ्गा, मधुर मुखर गुञ्जत बहु भृङ्गा।
बोलत जल-कुक्कुट कल हंसा, प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।
चक्रबाक बक खग समुदाई, देखत बनइ बरनि नहिं जाई।
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई, जात पथिक जनु लेत बोलाई।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये, चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये।

चम्पक बकुल कदम्ब तमाला, पाटल पनस पलास रसाला।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना, चञ्चरीक पटली कर गाना।
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ, सन्तत बहै मनोहर बाऊ।
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं, सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।

सहृदय-शिरोमणि तुलसी की दृष्टि मानव-हृदय और प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर पैठने में ही अभ्यस्त न थी, वह सृष्टि के सभी जीवों के अन्तस्तल की दशा देखने का प्रयास किया करती थी। राम के वियोग से

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं, सरित सरोवर देखि न जाहीं।

और

हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुर पसु चातक मोर।
पिक रथाङ्ग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥

राम बियोग बिकल सब ठाढ़े, जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े।

जानकी ने जनकपुर में शुक-सारिका पाल रखे थे। उनके वहाँ से अयोध्या जाते समय उनकी क्या दशा हुई थी ?

सुक सारिक जानकी ज्याये, कनक पिञ्जरन्हि राखि पढ़ाये।
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही, सुनि धीरजु परिहरइ न केही।

और देखिए राम के वियोग का प्रभाव घोड़ों पर। बहुत समझा-बुझा कर गुह ने सुमन्त्र को रथ पर बैठाकर अयोध्या भेजा, पर

सोक सिथिल रथु सकइ न हाँकी, रघुबर बिरह पीर उर बाँकी।
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे, बन मृग मनहु आनि रथ जोरे।
अढ़ुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें, राम-बियोगि बिकल दुख तीछें।

जो कह रामु लखनु बैदेही हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही ।
बाजि बिरह गति किमि कहि जाती, बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती

इस प्रकार मनुष्येतर प्राणियों के मर्म को भी पहचानने में प्रवीण तुलसी ने 'मानस' में मानसिक दशाओं और प्राकृतिक रूपों की बड़ी ही मनोमोहक छवि उरेही है । इसी अवसर पर हमें यह भी देखते चलना चाहिए कि 'मानस' में विविध भावों की रसात्मक अनुभूति कहाँ तक करायी गयी है । सीता और राम के पवित्र प्रेम की झलक ऊपर दिखलायी जा चुकी है । और सीता का हरण हो जाने पर राम के विलाप में 'वियोग शृंगार' का हृदयग्राही रूप देखा जाता है । राम ने वियोग दशा का चरमोत्कर्ष उस समय प्रदर्शित किया जिस समय वे 'पूछत चले लता तरु पाती' कि—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम्ह देखी सीता मृग नैनी ?

फिर उन्होंने बसन्त के प्रभाव का वर्णन लक्ष्मण से यों बतलाया—

देखहु तात बसन्त सुहावा, प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ।
बिरह बिकल बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल ।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल ॥
देखि गयउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटकु हटकि मनजात ॥
बिटप बिसाल लता अरुझानी, बिबिध बितान दिये जनु तानी ।
कदलि ताल बर ध्वजा पताका, देखि न मोह धीर मन जाका ।
बिबिध भाँति फूले तरु नाना, जनु बानैत बने बहु बाना ।

कहुँ कहुँ सुन्दर बिटप सुहाये, जनु भट बिलग बिलग होइ छाये।
कूजत पिक मानहुँ गज माते, ढेक महोख ऊँट बिसराते।
मोर चकोर कीर बर बाजी, पारावत मराल सब ताजी।
तीतिर लावक पदचर जूथा, बरनि न जाइ मनोज बरूथा।
रथ गिरि सिला दुन्दुभी झरना, चातक बन्दी गुन गन बरना।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई, त्रिबिध बयारि बसीठीं आई।
चतुरङ्गिनी सेन सँग लीन्हें, बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें।

'हास्यरस' तो शिव की बारात में प्रवाहित हो ही रहा है। नारद-मोह के प्रकरण में भी उस समय मिलता है जिस समय विश्वमोहिनी जयमाल लेकर आयी और बन्दर के-से मुँह वाले 'जेहि दिसि बैठे नारद फूली, सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली।

इस पर

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं, देखि दसा हरगन मुसुकाहीं।

'करुण' रस का स्रोत अयोध्या और चित्रकूट से फूट निकला था। राजा के मरने पर राज-भवन और नगर उसमें डूब गया था। चित्रकूट में जनक-समाज पर उस करुणा-सरिता का प्रभाव यह हुआ था—

आश्रम सागर सान्तरस, पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहिं रघुनाथु॥

बोरति ग्यान बिराग करारे, बचन ससोक मिलत नद नारे।
सोच उसास समीर तरङ्गा, धीरज तट तरुवर कर भङ्गा।
बिषम बिषाद तोरावति धारा, भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा।
केवट बुध विद्या बड़ि नावा, सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा।

बनचर कोल किरात बिचारे, थके बिलोकि पथिक हियँ हारे।
आश्रम उदधि मिली जब जाई, मनहुँ उठेउ अम्बुधि अकुलाई।
सोक बिकल दोउ राज समाजा, रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा।
भूप रूप गुन सील सराही, रोवहिं सोकसिन्धु अवगाही।
अवगाहि सोक-समुद्र सोचहिं नारि नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोप बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा।

'रौद्र' का रूप भी चित्रकूट में लक्ष्मण प्रत्यक्ष दिखला देते हैं। सेना लेकर आते हुए भरत के आगमन की सूचना पाते ही वे उबल पड़ते हैं—

अनुचित नाथ न मानब मोरा, भरत हमहि उपचार न थोरा।
कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारें, नाथ साथ धनु हाथ हमारें।
छत्रि जाति रघुकुल जनमु, राम अनुग जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर, नीच को धूरि समान।
उठि कर जोरि रजायसु माँगा, मनहुँ बीररस सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा, साजि सरासन सायकु हाथा।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ, भरतहि समर सिखावनु देऊँ।
राम निरादर कर फलु पाई, सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।
आइ बना भल सकल समाजू, प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।
जौं सहाय कर संकरु आई, तौ मारउँ रन राम दोहाई।
अति सरोष माखे लखनु, लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान॥

'भयानक' 'अद्भुत' और 'वीभत्स' रसों का रूप लङ्कादहन के प्रसङ्ग में देखने को मिलता है। और वीर रस का परिपाक राम और रावण के रोमाञ्चकारी संग्राम में हुआ है। इसके अतिरिक्त 'शान्तरस' तो सारे काव्य में ओत-प्रोत है। एक प्रकार से वही इसका प्रधानरस है। स्थल-सङ्कोच के कारण इनके उदाहरण नहीं दिये जाते। निर्दिष्ट स्थलों में देखकर उक्त सब रसों की अनुभूति की जा सकती है। तब यह कहना उचित ही होगा कि 'मानस' में जीवन की व्यापक झाँकी के साथ ही अवसर के अनुसार रसात्मक वर्णन की छटा मन को मुग्ध कर लेती है।

अलंकृति

गोस्वामी तुलसीदास ने 'मति-अनुरूप राम गुन' गाने के लिए ही 'मानस' की रचना की थी। उन्होंने यह भी कहा था कि

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू, सकल कला सब बिद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना, छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा, कबित दोषगुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

कहीं यह सच होता! सच तो यह है कि काव्य के बाह्य और आन्तरिक सभी उपकरण 'मानस' में विद्यमान हैं। 'भाव भेद, रस भेद अपारा' का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ यह देखना है कि गोस्वामी जी कितने वचन-प्रवीन थे। और 'आखर अरथ अलङ्कृति नाना' से युक्त रचना करने में कितने कुशल थे। यहाँ उन्होंने अपनी जो कवित्व-विवेक से

अनभिज्ञता की चर्चा की है वह केवल इस लिए कि काव्य-कौशल दिखलाने और पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने कविता नहीं की थी। उन्होंने तो राम-गुन गान ही अपना उद्देश्य बनाया था। उसमें चेष्टा करके अलंकृति लाने का प्रयास नहीं किया, वह तो अपने आप आ गयी है। इस प्रकार गोस्वामी जी की रचना में कहीं भी प्रयत्न साध्य काव्य-चमत्कार नहीं मिलता। उसमें तो वह स्वाभाविक रूप में आ गया है। इसी लिए 'मानस' अलङ्कार-पूर्ण काव्य होते हुए भी केशव जैसे चमत्कारवादी कवियों की रचनाओं के समान दुरूह और अस्वाभाविक नहीं हुआ। 'मानस' के अलङ्कारों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे स्वाभाविक सौन्दर्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। उनसे वर्ण्य विषय चमक उठता है, किन्तु आँखों के सामने चकाचौंध अथवा विचार-शक्ति के सामने उलझन नहीं उत्पन्न करता। इसी से उनकी रचना में दूर की कौड़ी लाने की अस्वाभाविक चेष्टा नहीं दिखलायी पड़ती। सब बातें सरल ढङ्ग से कही गयी हैं। इसी प्रकार उसमें कहीं अलङ्कार ठूँसे नहीं गये। वे स्वतः आते गये हैं। वे वर्ण्य, भाव, कार्य, विषय और अर्थ को उत्कृष्ट बनाकर अपना काम सिद्ध करते हैं। उनके कारण कथा का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता, स्वच्छन्द बहता चलता है। तुलसीदास ने शब्दालङ्कारों में एकाध स्थल पर ही श्लेष का प्रयोग किया है, यथा—'सन्तत सुरानीक हित जेही'

'रावन सिर सरोज बन चारी, चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।'

किन्तु अनुप्रास तो छाया की भाँति उनके पीछे पीछे चलता था। जहाँ चाहिए उसे देख लीजिए। 'छेक' से मुक्त तो कदाचित ही कोई अर्द्धाली निकले और 'वृत्यनुप्रास' भी बहुत प्रयुक्त हुआ है। नीचे कुछ उदाहरण लीजिए और 'मानस' का कोई भी स्थल चुन लीजिए, वहीं आप अनुप्रास की स्वाभाविक छटा देख लीजिए।

(१) मातु पिता भगिनी प्रिय भाई, प्रिय परिवार सुहृद समुदाई।
सासु ससुर गुर सजन सहाई, सुत सुन्दर सुसील सुखदाई।
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते, पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते।

(२) धर्म धुरीन धीर नय नागर, सील सनेह सत्य सुखसागर।

(३) काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जान।

(४) बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं, जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं।

(५) जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू, मोहि पद पदुम पखारन कहहू।

इसी प्रकार यमक अलङ्कार भी 'मानस' में अपने अकृत्रिम रूप में मिलता है। उदाहरणार्थ—

(१) मूरति मधुर मनोहर देखी, भयेउ बिदेह बिदेह बिसेखी।

(२) अस मानस मानस चख चाही, भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही।

(३) भव भव बिभव पराभव कारिनि, बिस्व बिमोहिनि स्वबस बिहारिनि।

अन्य शब्दालङ्कारों में पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति आदि के भी अनेक उदाहरण 'मानस' से दिये जा सकते हैं। इनके सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। गोस्वामीजी ने कहीं भी प्रयत्न करके इन अलङ्कारों के लाने के लिए ही कविता नहीं की, ये उनकी उक्तियों में आप से

आप आते गये हैं। इसी से ये नितान्त स्वाभाविक लगते हैं। और तभी ये उक्ति की शोभा बढ़ाने में स्वाभाविक ढङ्ग से सहायता पहुँचाकर अपनी अलङ्कारता सार्थक करते हैं। गोस्वामीजी ने अर्थालङ्कारों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। उनके द्वारा भी सर्वत्र भाव अथवा वस्तु के सौन्दर्य की वृद्धि में सहायता मिली है। इन अलङ्कारों में सादृश्यमूलक अलङ्कार ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में भी उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है। इनमें अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के सौष्ठव का प्रदर्शन हुआ है। संस्कृत में कालिदास की उपमायें बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में तुलसीदास की उपमायें भी अनूठी हैं। इनमें कुछ उपमाओं में तो कवि-समय के अनुसार मान्य उपमानों से उपमेय की श्रीवृद्धि की गयी है किन्तु अनुभव और प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे भी परम्परा मुक्त उपमानों का प्रयोग भी कम नहीं हुआ। कुछ उदाहरण लीजिए।

चित्रकूट की सभा में देव-माया के वश में पड़े लोगों की दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

रामहि चितवत चित्र लिखे से, सकुचत बोलत बचन सिखे से।

सीता को ग्राम-वधूटियाँ असीसती हैं—

पारबती सम पति प्रिय होहू, देवि न हम पर छाड़ब छोहू।

लक्ष्मण जनक-सभा में प्रतिज्ञा करते हैं—

जौं तुम्हार अनुसासन पावौं, कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं।
काँचे घट जिमि डारौं फोरी, सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी।

धनुष उठाने के लिए जाते समय राम के प्रति पुरवासियों के ये उद्गार हैं—

बंदि पितर सब सुकृत सँभारे, जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं, तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं।

इन उदाहरणों में परम्परा-प्रसिद्ध उपमानों का ही प्रयोग किया है। फिर भी उनके द्वारा उपमेय के उत्कर्ष की वृद्धि हुई है। इससे वे काव्योचित हैं। अब उपमा के कुछ परम्परा-मुक्त तथा नवीन श्रेष्ठतर उदाहरण लीजिए। भरत, शत्रुघ्न अयोध्या-वासियों और सेना के साथ रामचन्द्र को मनाने के लिए चित्र-कूट पहुँचने ही वाले थे। लक्ष्मण ने उनके आने की सूचना पा कर उत्तेजित होकर कहा—

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।

इसमें 'सेन समेत भरत' को 'करि निकर' (हाथियों का समूह) मानकर उसको दलने वाले लक्ष्मण के लिए 'मृगराज' (सिंह) उपमान का प्रयोग किया गया है और सानुज (अर्थात् अनुज, शत्रुघ्न, सहित) भरत को 'लवा' कहकर 'बाज' उपमान का। अकेला सिंह हाथियों के झुण्ड को नष्ट कर देता है। वह आकार में हाथियों से छोटा होते हुए भी अपनी शक्ति की अधिकता के कारण ऐसा करता है। लक्ष्मण भी अकेले विशाल राघवी सेना को नष्ट कर देंगे इसी से यह उपमा बड़ी सटीक बैठती है। फिर देखिए शत्रुघ्न लक्ष्मण से छोटे हैं। लवा बाज से छोटा होता है इसीसे शत्रुघ्न को लवा मानकर लक्ष्मण को

बाज माना गया है। एक ही व्यक्ति के लिए कैसे सुन्दर उपमानों का प्रयोग हुआ है।

मनु ने भगवान से वर माँगा था—

मनि बिनु फनि जिमि जलुबिनु मीना,ममजीवन तिमितुम्हहिंअधीना।

इसमें जीवन के लिए मणि विहीन सर्प और जल विहीन मीन—इन दो उपमानों का प्रयोग किया है। सर्प मणि को स्वेच्छा से अलग रख देता है और तब उसके छिन जाने पर अपने प्राण दे देता है। मछली दूसरे के द्वारा पानी से अलग की जाती है। तब अपने प्राण त्याग देती है। मनु के कहने का तात्पर्य यह कि चाहे मैं अपनी इच्छा के अनुसार तुम्हें अलग करूँ, चाहे दूसरे के इच्छानुसार, किसी भी दशा में तुम मुझसे अलग हो तो मैं जीवित न रहूँ। इसी अभिलाषा को ध्यान में रखने पर नीचे लिखी उक्ति की सार्थकता सिद्ध होती है। दशरथ ने कैकेयी को वर दिया राम के वनवास का। वे व्याकुल हुए और बोले—

जिअइ मीन बरु बारि बिहीना,मनि बिनु फनिकु जिअइ दुख दीना।
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं, जीवनु मोर रामु बिनु नाहीं।

और जिस समय सुमन्त्र राम को लिवाकर महाराज दशरथ के पास पहुँचे थे उस समय उन्होंने उन्हें जिस रूप में देखा था उसका वर्णन इस उत्प्रेक्षा के द्वारा कितना अच्छा उतरा है—

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू, मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू।

तथा जिस समय राजा ने आँख खोलकर राम को देखा

उस समय का वर्णन भी इसी प्रकार की सुन्दर उत्प्रेक्षा के द्वारा किया गया है—

लिये सनेह बिकल उर लायी, गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पायी।

प्राण त्यागते समय दशरथ की दशा का वर्णन भी इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा के द्वारा किया गया है—

प्रान कंठगत भयउ भुआलू, मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।

जब वनवास से पूर्व रामचन्द्रजी दशरथ से मिले थे तब बड़ी देर तक वे उन्हें देखते ही रह गये थे और बहुत सी बातें सोचते जाते थे। उस समय का वर्णन है—

अस मन गुनइ राउ नहिं बोला, पीपर पात सरिसु मन डोला।

कहीं कहीं तो तुलसीदासजी ने मालोपमा के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। 'राम-कथा' के सम्बन्ध में उपमाओं की सुन्दर माला देखिए—

असुर सेन सम नरक निकंदिनि, साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि।
संत समाज पयोधि रमा सी, बिस्व भार भर अचल छमा सी।
जम गन मुहँ मसि जग जमुना सी, जीवन मुकुति हेतु जनु कासी।
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी, तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।
सिवप्रिय मेकल सैल सुता सी, सकल सिद्धि सुख संपति रासी।
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी, रघुबर भगति प्रेम परिमिति सी।

राम के गुण ग्राम की मालोपमा कैसी बनी है—

हरन मोह तम दिनकर कर से, सेवक सालि पाल जलधर से।
अभिमत दानि देव तरु बर से, सेवत सुलभ सुखद हरि हर से।
सुकबि सरद नभ मन उड़गन से, राम भगत जन जीवन धन से।

सकल सुकृत फल भूरि भोग से, जग हित निरुपधि साधु लोग से
सेवक मन मानस मराल से, पावन गङ्ग तरङ्ग माल से।

कवितावली में भी मालोपमा का सुन्दर उदाहरण देखते ही बनता है—

कीर के कागर ज्यों नृपचीर बिभूषन उप्पम अङ्गनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग-लुगाई॥
संग सुबंधु पुनीति प्रिया मनो धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥

'प्रतीप' भी उपमा का ही रूपान्तर है, जिसमें उपमेय का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए उपमा के ढँग में उलट फेर कर दिया जाता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मन काम
उतरि नहाने जमुन जल जो सरीर सम स्याम

राज कुँअर दोउ सहज सलोने, इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने।
भूपति भवन सुभाय सहावा, सुरपति सदन न पट तर पावा।
बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं, सीय बदन सम हिमकर नाहीं।

नील सरोरुह नील मनि नील नील धर स्याम।
लाजत तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

उत्प्रेक्षा में भी उपमा के समान ही अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का उत्कर्ष बढ़ाया जाता है। जैसे—

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥

जनक-वाटिका में राम-लक्ष्मण की शोभा का यह सुन्दर

वर्णन है। इसी प्रकार धनुष-यज्ञ में उपस्थित राम को देखने के लिए उत्सुक किन्तु लज्जाशीला जानकी के सम्बन्ध की यह उत्प्रेक्षा भी बड़ी सुन्दर है—

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधु-मंडल डोल ॥

जनक-वाटिका में राम को देखने के लिए उतावली जानकी की आँखों पर कैसी उत्प्रेक्षा की गयी है—

चितवति चाकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता।
जहँ विलोक मृग सावक-नैनी, जनु तहँ बरसि कमल-सित-श्रेनी।

जब सुमन्त्र राम को गङ्गा तट तक पहुँचा कर अयोध्या लौटे तब दशरथ ने व्याकुल होकर पूछा राम कहाँ हैं। राम के चले जाने से वे शोक के सागर में डूब रहे थे। सुमन्त्र को देखते ही उन्हें आशा बँधी कि सम्भव है राम के मिलने का समाचार सुमन्त्र सुनावें। इस पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि—

भूप सुमन्त्र लीन्ह उर लाई, बूड़त कछु अधार जनु पाई।

इसी प्रकार 'पैरत थके थाह जनु पाई!' तथा 'सूखत धान परा जनु पानी' भी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ हैं। राम के वियोग में तड़पती हुई कौशल्या की दशा पर भी कवि ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुखभारु।
कनक कलपबर-बेलि-बन, मानहुँ हनी तुसारु ॥

इसमें गौर वर्ण कौशल्या के दुःख के कारण सूखकर काली पड़ जाने का पाला पड़ जाने पर सूखी और काली कनक-

लता से किया गया साम्य दर्शनीय है। युद्ध-वीर राम के क्षत-विक्षत शरीर के सौन्दर्य पर नीचे लिखी उत्प्रेक्षा कैसा अच्छा रूप-सदृश्य प्रस्तुत करती है—

सिर जटा मुकुट-प्रसन बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नील गिरि पर तड़ित-पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुज दण्ड सर-कोदण्ड फेरत रुधिर-कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं विपुल सुख आपने॥

रूपक अलङ्कार तो गोस्वामी जी को अत्यन्त प्रिय जान पड़ता है। मानस में न जाने कितने परम्परित और साङ्ग रूपक से अलङ्कृत वर्णन भरे पड़े हैं। सुमन्त्र राम के वियोग में व्याकुल होकर कहते हैं —

हृदय न बिदरेउ पङ्क जिमि, बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहिं दीन्ह बिधि, यहु जातना सरीरु॥

वर्षा के अनन्तर नदी का पानी घटने लगता है। कीचड़ निकल आता है। सूर्य की तीखी किरणों के पड़ने से वह पानी सूख जाता है। वह फट जाता है। अपने प्रीतम पानी के वियोग से मानों उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। कीचड़ की छाती तो प्रीतम के वियोग से फट जाती है पर सुमन्त्र की छाती राम के वियोग से नहीं फटती। उनके वियोग का कैसा सजीव चित्रण है!

कैकेयी राजा दशरथ से जो राम वनवास सम्बन्धी अप्रिय बातें कह रही थी उनका उत्प्रेक्षा-समन्वित रूपक देखिए—

जीभ कमान बचन सर नाना, मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना।

इसमें धनुष विद्या सीखने की कल्पना ने अनभ्यस्त वीर के प्रहारों को जहाँ तहाँ लगने वाली चोटों का रूप खड़ा कर दिया है। इससे रूपक कठोरता का सजीव चित्र उपस्थित कर रहा है। कैकेयी की इसी प्रकार की कठोरता का यह परम्परित रूपक भी दर्शनीय है—

भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचन भयङ्करु बाजु॥

उत्प्रेक्षा से पुष्ट रूपक की नीचे लिखी छटा भी देखते ही बनती है। इसमें कैकेयी का रोष प्रत्यक्ष हो रहा है—

होत प्रात मुनि-बेषु धरि, जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु, नृप समुझिअ मन माहिं॥

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी, मानहुँ रोष-तरङ्गिनि बाढ़ी।
पाप पहार प्रगट भइ सोई, भरी क्रोध-जल जाइ न जोई।
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा, भवँर कूबरी-बचन-प्रचारा।
ढाहत भूपरूप तरु मूला, चली बिपति बारिधि अनुकूला।

साङ्ग रूपक के उदाहरण के लिए मानस के प्रथम सोपान में 'मानस रूपक', 'कविता सरिता', 'रघुवर बाल सूर्य', द्वितीय सोपान में 'प्रयाग-राज', 'अहेरी चित्रकूट', 'करुणा सरिता', तथा अन्तिम सोपान में 'ज्ञान दीपक' और 'भक्ति मनि' के वर्णन विशेष रूप से देखने चाहिए। इन सब में गोस्वामीजी ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विविध अवयवों का सादृश्य भली भाँति प्रदर्शित किया है। विस्तृत वर्णन होने पर भी कहीं किसी प्रकार की कमी नहीं दिखलाई देती। उदाहरणार्थ मानस का रूपक देखिए—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, बेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहिं राम सुजस बर बारी, मधुर मनोहर मङ्गलकारी।
लीला सगुन जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सुसीतलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेधा महि गत सो जल पावन, सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना।

सुठि सुन्दर सम्बाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहिं पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना, ग्यान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा, बरनब सोइ बर बारि अगाधा।
राम सीय जस सलिल सुधासम, उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई, जुगुति मञ्जु मनि सीप सुहाई।
छन्द सोरठा सुन्दर दोहा, सोइ बहुरङ्ग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा, सोइ पराग मकरंद सुबासा।
सुकृत पुञ्ज मञ्जुल अलि माला, ग्यान बिराग बिचार मराला।
धुनि अवरेब कबित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहुभाँती।
अरथ धरम कामादिक चारी, कहब ग्यान बिग्यान बिचारी।
नव रस जप तप जोग बिरागा, ते सब जलचर चारु तड़ागा।
सुकृती साधु नाम गुन गाना, ते बिचित्र जल बिहग समाना।
संत सभा चहुँ दिसि अवँराई, श्रद्धा रितु बसंत सम गाई।
भगति निरूपन बिबिध बिधाना, छमा दया दम लता बिताना।
सम जम नियम फूल फल ग्याना, हरि पद रति रस बेद बखाना।

औरउ कथा अनेक प्रसङ्गा, तेइ सुक पिक बहु बरन विहङ्गा।

पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहङ्ग बिहारु।

माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥

प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समता का आधिक्य दिखलाने के लिए रूपकातिशयोक्ति का सहारा लिया जाता है। रामचन्द्र सीता को सिन्दूर दान कर रहे हैं। उस समय का सौन्दर्य नीचे उद्धृत वर्णन में देखिए—

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं, उपमा कहि न जाय कबि केहीं।
अरुण पराग जलज भरि नीकें, ससिहिं भूष अहि लोभ अमी कें।

राम के वियोग की अधिकता की अनुभूति कराने के लिए कवि ने उनको वन में सर्वत्र सीता के दर्शन कराने के लिए इस रूपकातिशयोक्ति का सहारा लिया है—

खञ्जन सुक कपोत मृग मीना, मधुप-निकर कोकिला प्रबीना।
कुन्दकली दाडिम, दामिनी, कमल-शरद ससि अहिभामिनी।
वरुण-पास मनोज, धनु, हंसा, गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कमल कदलि हरषाहीं, नेकु न सङ्क सकुच मन माहीं।

अतिशयोक्ति का प्रयोग बहुधा कवि उपमेय का बहुत बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करने के लिए किया करते हैं और उसमें केवल कल्पना की उड़ान भरते हैं, किन्तु गोस्वामीजी ने उसके द्वारा भी सौन्दर्य की अनोखी सृष्टि की है। सीता के सौन्दर्य की समता न पाकर उन्होंने पहले व्यतिरेक का आश्रय लेते हुए कहा—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी, रति अति दुखित अतनु पति जानी।

बिष बारुणी बन्धु प्रिय जेही, कहिय रमा सम किमि बैदेही।

फिर उन्होंने अपनी अद्भुत कल्पना से इस अनूठी अतिशयोक्ति की उद्भावना की और यह दिखा दिया कि सीता की सुन्दरता लोक में अनुपम है—

जौ छबि-सुधा-पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मन्दरु सिङ्गारू, मथइ पानि पङ्कज निज मारू।
एहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय-सम तूल॥

अलङ्कार अगणित हैं और गोस्वामीजी ने मानस तथा अन्य काव्यों में न जाने कितने अलङ्कारों का प्रयोग किया है। उन सबका पूरा विवेचन सीमित क्षेत्र के भीतर करना असम्भव है। अतएव इतने अल्प विवेचन से सन्तुष्ट रहना पड़ता है। इन अलङ्कारों के विषय में इतना और सूचित करना है कि प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत वर्णन में आने से ये कथा अथवा वर्णन में बाधा नहीं पहुँचाते। यदि थोड़ी देर के लिए अलङ्कार से ध्यान हटा लिया जाय तो भी वर्णन का प्रवाह कहीं नहीं रुकता। अन्यत्र की बात नहीं लम्बे लम्बे साङ्ग रूपकों तक में यह बात पायी जाती है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त मानस रूपक लीजिए और उसका अलङ्करण हटा कर जो प्रकरणगत अभिप्राय है उसे कुछ इस रूप में देखिए—साधु वेद और पुराणों से राम यश लेकर वर्णन करते हैं। राम की सगुण लीला में प्रेम और भक्ति होती है, उससे सुकृत बढ़ता है, जिससे राम भक्त पोषित होता है। उस राम-कथा को कानों से सुनकर मेधा

में धारण किया, फिर उससे 'मानस' बनाया जिसमें चार संवाद हैं, सात प्रबन्ध हैं, रघुपति की महिमा की गहराई है, राम और सीता का यश है, उपमायें, चौपाइयाँ, छन्द, सोरठे और दोहे हैं, अनुपम अर्थ और सुन्दर भाषा है, उसमें सुकृत पुञ्ज, ज्ञान, विराग, ध्वनि, अवरेब (व्यङ्ग), गुण, जाति, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, ज्ञान, विज्ञान, नवरस, जप, तप, योग, आदि रहेंगे। उसमें साधु और सन्तों की सभा का वर्णन रहेगा, श्रद्धा, भक्ति, क्षमा, दया, सम, यम, नियम, वेद वर्णित भगवद्भक्ति तथा अन्य दूसरी कथाएँ होंगी। उसे पढ़ते समय शरीर पुलकित होगा, मन को सुख मिलेगा और श्रोता अपने नेत्रों के जल से उसे सींचा करेंगे। इसी प्रकार अन्य सभी स्थलों पर अलङ्कार हटाने पर वर्णन की धारा प्रवाहित होती रहती है। कथा कहीं रुकती सी नहीं जान पड़ती। अलङ्कार केवल उसकी शोभा बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। यही उनका धर्म है और गोस्वामी जी ने इसे पहचाना और सम्यक् रीति निभाया है।

उद्देश्य सिद्धि

यह लिखा जा चुका है कि गोस्वामीजी ने रामावतार के पूर्व लोक में रावण के अत्याचार का बड़ा ही भीषण प्रभाव दिखलाया है। रावण ने शक्ति सञ्चय कर उसका दुरुपयोग किया। उसने अपनी अगणित सेना को आज्ञा दी—

सुनहु सकल रजनीचर जूथा, हमरे बैरी बिबुध बरुथा।
ते सनमुख नहिं करहिं लराई, देखि सबल रिपु जाहिं पराई।

तेन्ह कर मरन एक विधि होई; कहउँ बुझाई सुनहु अब सोई।
द्विज भोजन मख होम सराधा, सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा।

इस प्रकार उसने लोक में दैवी शक्ति को निर्बल करने का आयोजन किया और फिर देवताओं को अपने वश में कर लिया—

रवि ससि पवन बरुन धनधारी, अगिनि काल जम सब अधिकारी।
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा, हठि सबहीं के पंथहिं लागा।

तदनन्तर उसके सहचरों ने खुलकर वे काम किये जिनसे वैदिक धर्म निर्मूल हो गया—

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला, सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ—

सुभ आचरन कतहुँ नहि होई, देव बिप्र गुरु मान न कोई।
नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना, सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना।
जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥
बाढ़े खल बहु चोर जुआरा, जे लम्पटपर धन परदारा।

इस अनीतिमय राक्षसी प्रभाव को दूर करने के लिए ही रामचन्द्र का आविर्भाव हुआ जिनके जीवन और पुरुषार्थ का

देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं, सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।
सब सुत मोहि प्रान की नाईं, राम देत नहिं बनइ गोसाईं।

इसी प्रकार 'मानस का 'बिप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार' 'गीतावली' में 'बिप्र साधु सुर धेनु धरनि हित हरि अवतार लयो' होकर आया है, उसका 'विद्यानिधि कहुँ विद्या दीन्ही' इसके 'त्रिद्या दई जानि विद्यानिधि' में विद्यमान है, और उसका 'इन्हतें लहि दुति मरकत सोने' गीतावली में 'इन्हतें लही है मानो घन-दामिनि दुति मनसिज मरकत-सोने' हो गया है। ये तथा गीतावली के अन्य ऐसी ही सादृश्य यह सूचित करते हैं कि तुलसीदासजी को कुछ भाव और विचार इतने प्रिय थे कि उनके वर्णन के विविध स्थलों में शब्द-साम्य तक हो गया है।

३. रामलला नहछू

परिचय

यज्ञोपवीत और विवाह के पहले नहछू होता है। इसमें बटु वा वर के बाल मुँडाये जाते हैं। यज्ञ-मण्डप में स्नान करा के माता उसे गोद में लेकर बैठती है। नाइन उसके नखों को काटती और उन पर महावर लगाती है। इसी रीति का इस काव्य में गान है। यह ठेठ अवधी में है। इसमें कुल बीस सोहर छन्द हैं। इस छन्द में रचे गीत पुत्र जन्म सम्बन्धी उत्सवों और उपनयन, विवाह आदि संस्कारों के समय गाये जाते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि इस काव्य में रामचन्द्र के विवाह के समय के नहछू का वर्णन है। परन्तु प्रचलित रामा-

यणों तथा गोस्वामीजी की अन्य कृतियों में कहीं भी धनुर्भङ्ग के पश्चात् राम के अयोध्या आने का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें 'बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो' में 'मायन' (मातृका आनयन अर्थात् मातृका—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा—इन सात देवियों का पूजन) को देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि यह विवाह के पहले वर के द्वारा किया गया मातृका पूजन ही है। अतएव इसे विवाह के पहले का नहछू समझना चाहिए। परन्तु उपनयन के पहले भी मातृका पूजन होता है। और इसमें 'आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो, 'नगर सोहावन लागत बरनि न जातै हो' तथा 'कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो' का स्पष्ट निर्देश है। इसमें वर्णित कृत्यों से इसे विवाह के समय का नहछू समझा जाता है। इसमें बरायन लेकर लोहारिन, दहेंडी लेकर अहीरिन, बीड़ा लेकर तँबोलिन, जोड़ा लेकर दर्जिन, पनही लेकर मोचिन, मौर लेकर मालिन, छाता लेकर बारिन और नहरनी लेकर नाइनके माँडव (मण्डप) के नीचे आने का वर्णन है। परन्तु उपवीत संस्कार के समय भी यही सब कृत्य होते हैं। और एक सोहर में राम के 'बर' तथा 'दूलह' का प्रयोग हुआ है—'गोद लिये कौसिला बैठि रामहि बर हो। सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो।' अन्यत्र भी 'दूलह' का प्रयोग हुआ है—'दूलह कै महतारि देखि मन हरषत हो।' इससे भी अनुमान किया जाता है कि यह विवाह के पहले का नहछू है। परन्तु यज्ञोपवीत के समय गाये जाने वाले गीतों

में भी ये शब्द आया करते हैं। अतः केवल इन शब्दों के आधार पर इसे विवाह के समय का नहछू न माना चाहिए। सब बातों पर विचार करके इस कृति को उपनयन के समय का ही नहछू मानना समीचीन जान पड़ता है।

कवित्व

इस काव्य में थोड़े से शृङ्गार-पूर्ण वर्णन हैं। वैसे वर्णन गोस्वामीजी के दूसरे काव्यों में नहीं मिलते। परन्तु आनन्दोत्सव के समय दिखलायी पड़ने वाले उल्लास का चित्रण होने से ये वर्णन अनुचित न समझे जाने चाहिए। यह काव्य स्त्रियों के गाने के लिए रचा गया है। इससे इसकी पदावली कोमल और प्रवाह-पूर्ण है। इसमें वस्तुओं और व्यापारों के चित्र बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से अङ्कित हुए हैं। नहछू की योजना देखिए—

आले हि बाँस के माँडव मनिगन पूरन हो।
मोतिन्ह झालरि लागि चहूँ दिसि झूलन हो।
गङ्गाजल कर कलस तौ तुरित मँगाइय हो।
जुवतिन्ह मङ्गल गाइ राम अन्हवाइय हो।
गजमुकुता हीरा मनि चौक पुराइय हो।
देइ सुअरघ राम कहँ लेइ बैठाइय हो।

कवि की आँखें पुष्प माल विभूषित राम के वक्षस्थल एवं जावक से रञ्जित उँगलियों पर भी पड़ी थीं—

अतिसय पुहुप क माल राम-उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँदमनि मुख जोहइ हो।

नख काटत मुसुकाहिं बरन नहिं जातहि हो।
पदुमराग मनि मानहुँ कोमल गातहि हो।
प्रभु कर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो।
जावक रचित अँगुरियन्ह मृदुल सुढारी हो।

उस समय होने वाले स्वाँगों की सूचना देकर कवि ने नहछू के लोक प्रचलित रूप की रक्षा की है। कहते हैं—'हिलिमिलि करत सवाँग सभ रसकेलि हो।'

इस छोटे से वर्णनात्मक काव्य में भी गोस्वामीजी ने राम के दिव्य रूप का सङ्केत करने का अवसर निकाल ही लिया था—

जो पगु नाउनि धोवइ राद धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरस न पावइँ हो।

४. बरवै रामायण

परिचय

इस ६९ बरवै छन्द के छोटे से प्रबन्ध काव्य में रामचरित का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है। इसमें सात काण्ड हैं। बाल काण्ड में जनकपुर के रनिवास में सीता और राम के सौन्दर्य के वर्णन के अतिरिक्त धनुर्भङ्ग की घटना का उल्लेख है। अयोध्या काण्ड में राम के वनवास, वन-गमन, गङ्गावतरण और वाल्मीकि-मिलन की चर्चा है। अरण्य में शूर्पणखा के लक्ष्मण के पास जाने, हेम-हरिण और सीता-हरण के कारण राम की व्याकुलता का उल्लेख है। किष्किन्धा में हनुमत्-मिलन; सुन्दर में अशोक वाटिका में सीता की दशा और उनसे हनुमान की बातचीत, तथा लङ्का में राम की असंख्य सेना का सङ्केत है।

उत्तर-काण्ड में राम के सम्बन्ध में कवि के उद्गार और सिद्धान्त कहे गये हैं। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि इसमें राम-चरित सम्बन्धी केवल इनी गिनी घटनाओं का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है।

'गीतावली' के समान 'बरवै रामायण' में भी कुछ स्थलों में रामचरितमानस से मिलती-जुलती पदावली का प्रयोग हुआ है। यथा बरवै रामायण में मन्थरा कैकेयी से कहती है—

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूछहु सुठि राउर सरल सुभाउ॥

'मानस' में यही बात उसने यों कही है—

भयउ पाख दिन सजत समाजू, तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू।

तथा—'का पूँछहु तुम्ह अबहुँन जान,' और

तुम्हहि न सोच सोहाग बल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुह मीठ नृपु, राउर सरल सुभाउ॥

वन-यात्री राम-लक्ष्मण के सम्बन्ध में—'कोउ कह नर नारायन, हरि हरि कोउ, कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ'। 'मानस' में इन्हीं के विषय में ये बातें कही गयी हैं—

नर नारायन सरिस सुभ्राता, जगपालक बिसेष जन त्राता।

और राम, सीता तथा लक्ष्मण के विषय में कहा गया है—

जनु मधु मदन मध्य रति लसई।

'मानस' में विरहिणी सीता की उक्ति है—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा, स्वास जरइ छन माहँ सरीरा।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी, जरै न पाव देह बिरहागी।

और 'बरवै रामायण' में वे इसी बात को इस प्रकार कहती हैं—

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ, ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देइ बुझाइ।

कवित्व

इस छोटे से काव्य में गोस्वामीजी ने जीवन के मर्म-स्थलों का निर्देश किया है। जनकपुर की नारियों के मन में राम के रूप का जो प्रभाव पड़ा था उसका विशद वर्णन 'मानस' और 'गीतावली' में किया गया है। यहाँ भी उसकी झलक देखी जाती है। कोई स्त्री उनके सौम्य रूप को देखकर कहती है—

साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव,
राम नीतिरत, काम कहाँ यह पाव?
कुङ्कुम तिलक भाल, स्त्रुति कुण्डल लोल,
काक पच्छ मिलि, सखि, कस लसत कपोल!
भाल तिलक सर, सोहत भौंह कमान,
मुख अनुहरिया केवल चन्द समान।
तुलसी बङ्क बिलोकनि मृदु मुसुकानि,
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि!

सीता जी हनुमान से अपनी विरह जन्य दशा की व्यञ्जना करती हैं—

अब जीवन कै हे कपि आस न कोइ, कनगुरिया कै मुँदरी कंगना होइ।

कनिष्ठिका में पहने की मुँदरी कलाई में कङ्कण हो जाती है। शरीर की क्षीणता का कैसा सजीव साँचा खड़ा कर दिया गया है।

केशवदास ने हनुमानजी से राम की क्षीणता का ऐसा ही सङ्केत सीताजी को दिलाया था। सीताजी बार बार मुद्रिका से राम का समाचार पूछती थीं और वह चुप थी। इस पर अशोक वृक्ष से हनुमानजी बोले—

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम।
कङ्कन की पदवी दई, तुम बिनु या कहँ राम।

'बरवै रामायण' में तुलसीदासजी ने अलङ्कारों का सुन्दर विधान किया है। सीता के सौन्दय की व्यञ्जना करते समय 'व्यतिरेक' का कैसा अच्छा प्रयोग हुआ है!

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर,
सीय अङ्ग, सखि कोमल कनक कठोर।
सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ,
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ।

राम के चरण-कमल का भी यह 'व्यतिरेक'-पूर्ण वर्णन बहुत प्रभावशाली है। कोई वनवासी स्त्री कहती है—

कमल कण्टकित सजनी, कोमल पाइ,
निसि मलीन, यह प्रफुलित नित दरसाइ।

सीता के शरीर के सम्पर्क में आने पर हार उसी वर्ण का हो जाता है। यहाँ 'मीलित' अलङ्कार दर्शनीय है—

सिय तुव अङ्ग रङ्ग मिलि अधिक उदोत,
हार बेलि पहिरावौं चम्पक होत।

इसी प्रकार कभी चम्पा का हार 'उन्मीलित' का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

चम्पक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ,
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाइ।

उनके केशों में गुथे मोती भी थोड़ी देर के लिए अपना रूप बदल देते हैं। वे उनसे अलग होने पर ही पहचाने जा सकते हैं। 'अतद्गुण' का बड़ा ही मनोहर वर्णन है—

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत,
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।

सीता और राम के सौन्दर्य की समता करती हुई कोई सखी व्यङ्ग्य-पूर्ण परिहास करती हुई 'प्रतीप' का प्रयोग करती है—

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माहँ,
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह।

इसी प्रकार मृग के पीछे दौड़ते हुए राम की मुद्रा का सौन्दर्य निभाते हुए गोस्वामीजी 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार पूर्ण उक्ति कहते हैं—

जटा मुकुट कर सर धनु, सँग मारीच,
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच।

इन अलंकृत उक्तियों में गोस्वामीजी ने वस्तु वा भाव के उत्कर्ष बढ़ाने का ही ध्यान रखा है कहीं केवल अलङ्कार का उदाहरण देने का खिलवाड़ नहीं किया है।

५. जानकी मङ्गल

परिचय

यह मङ्गल छन्द में रचित प्रबन्ध काव्य है। इसमें सीता

और राम के विवाह का वर्णन है। कथा 'मानस' के समान ही है। इसमें फुलवारी-वर्णन, लक्ष्मण-दर्प और परशुराम सम्बन्धी आख्यान नहीं हैं। जनक के द्वारा धनुष-यज्ञ दिखलाते समय राम के सौन्दर्य का प्रदर्शन है। साथ ही उन्हें देखकर नारियों, जनक की रानी, सीता आदि के भावों और विचारों का 'मानस' के समान ही वर्णन है। आगे विवाह के वर्णन में भी मानस के वर्णन से साम्य है। कहीं-कहीं तो इसकी शब्दावलि तक 'मानस' से ज्यों की त्यों मिल जाती है। जैसे, 'रूप, रासि जेहि ओर सुभाइ निहारइ, नील कमल सर स्रेनि मयनु जनु डारइ' में 'मानस' की इस अर्द्धाली की छाया है—

जहँ विलोक मृग सावक नयनी, जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी।

अन्तर केवल इतना है कि वहाँ का श्वेत कमल यहाँ नील हो गया है। इसी प्रकार 'मानस' का 'जनु पाये महिपालमनि क्रियन सहित फल चारि' इसमें 'जनु पाये फल चारि सहित साधन चहुँ' हो गया है। राम-लक्ष्मण को देखने पर लोगों ने जो कुछ सोचा या कहा था, तथा अन्य अनेक प्रकरणों के उद्धरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि 'जानकी-मङ्गल' में गोस्वामीजी ने 'मानस' में प्रयुक्त अपने बहुत से भावों, वर्णनों और पदों को अपनाया है।

'जानकी-मङ्गल' में मङ्गल के प्रत्यक्ष होकर नेग करने का उल्लेख है—'सियभ्राता के समय भौम तहँ आयउ, दुरीदुरा करि नेगु सुनात जनायउ'; परन्तु 'मानस' में इस प्रकार उसके आगमन का कहीं वर्णन नहीं हुआ। 'मानस' में विवाह के पहले

धनुष टूटते ही परशुराम के मिलन और वार्तालाप का विस्तार से वर्णन है; परन्तु 'जानकी मङ्गल' में वाल्मीकीय रामायण के सदृश ही विवाह के उपरान्त उनके मार्ग में मिलने का उल्लेख मात्र है—

पन्थ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिये,
डाँटहि आँख देखाइ कोप दारुन किये।
राम कीन्ह परितोष रोष रिस परिहरि,
चले सौंपि सारङ्ग सुफल लोचन करि।

कवित्व

यह काव्य उत्सव के अवसर पर गाने को लिए रचा गया है—'उपबीत ब्याह उछाह जे सिय राम मङ्गल गावहीं।' इस कारण इसमें कथा का विस्तार-पूर्वक साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं मिलता; बहुत स्थलों पर तो केवल सङ्केत मिलता है। फिर भी इसमें कथा के हृदय-ग्राही प्रसङ्गों की उपेक्षा नहीं हुई। विवाह के निमित्त आयोजन के समय लोगों के जो विचार हो सकते हैं उनका वर्णन कवि ने जम कर किया है। धनुष यज्ञ के समय राम को देखने में मग्न लोगों का चित्र देखिए—

नृप रानी पुर लोग राम तन चितवहिं,
मञ्जु मनोरथ कलस भरहिं अरु रितवहिं।
रितवहिं भरहिं धनु निरखि छिनु छिनु निरखि रामहिं सोचहीं।
नर नारि हरष विषाद बस हिय सकल सिवहि सकोचहीं।

जब राम धनुष के पास पहुँचे तब कबि ने सीता की मानसिक दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है—

कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ,
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ।
होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं,
फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहिं।
धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिंन,
बर किसोर, धनु घोर, दइउ नहिं दाहिन।

बिश्वामित्र के साथ जाते समय राम का बाल-स्वभाव भी दर्शनीय है—

गिरि तरु बेलि सरित सर बिपुल बिलोकहिं,
धावहिं बाल सुभाय, बिहँग मृग रोकहिं।
सकुचहिं मुनिहि सभीत बहुरि फिरि आवहिं,
तोरि फूल फल किसलय माल बनावहिं।

'जानकी मङ्गल' में भी अन्य ग्रन्थों की भाँति कवि का कुछ उक्ति-सौन्दर्य भी उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ, आशीर्वाद का यह कैसा अच्छा उदाहरण है—

ईस मनाइ असीसहिं जय जस पावहु,
न्हात खसै जनि बारु, गहरु जनि लावहु।

जब जनक ने राम को देखा तब वे देखते ही रह गये। उनकी इस दशा का चित्र देखिए—

देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ,
बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ।

फिर वे मन ही मन सोचने लगे—

पुन्य-पयोधि मातु पितु ये सिसु सुरतरु,
रूप सुधा-सुख देत नयन अमरनि बरु।

'जानकी मङ्गल' में कवि के अन्य ग्रन्थों के समान ही अलङ्कारों की स्वाभाविक छटा दिखलायी पड़ती है। अनुप्रास तो उनके पीछे पीछे चलता जान पड़ता है। काव्य आरम्भ करते ही उसका मनोमोहक रूप देखने में आता है—

गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति,
सारद सेस सुकबि स्रुति सन्त सरल मति।

इसके दो-एक और उदाहरण लीजिए—

तब सुबाहु सूदन जस सखिन सुनायेउ।
राम सीय बय समौ सुभाय सुहावन।

'उत्प्रेक्षा' के द्वारा ये भाव-चित्र कैसे अच्छे ढङ्ग से प्रस्तुत हुए हैं—

(१) होति विरह सर मगन देखि रघुनाथहिं,
फरकि बाम भुज नयन देत जनु हाथहिं।
(२) सीय सकुच बस पिय तन हेरइ,
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ।
(३) गये राम गुरु पहिं, राउ रानी नारि नर आनँद भरे।
जनु तृषित करि करिनी निकर सीतल सुधा सागर परे॥

६. रामाज्ञा प्रश्न

इसमें सात सर्ग हैं, प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक तथा प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। इस प्रकार ३४३ दोहों के अतिरिक्त

इसके आरम्भ में दो दोहे और हैं। उनमें प्रश्न निकालने की रीति बतलायी गयी है। इसमें राम-कथा के विविध प्रकरणों की चर्चा है और प्रत्येक दोहे से फलादेश निकलता है। इसके सात सर्गों को रामायण के काण्ड समझना चाहिए। पहले सर्ग में दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ, राम-जन्म, अहल्या-उद्धार, सीता स्वयंवर और विवाह, द्वितीय में राम के वनवास, वन-गमन, भरत-राम-मिलन, चित्रकूट तथा पञ्चवटो-निवास, एवं तृतीय में दण्डक वन के कार्य—शूर्पणखा-मिलन, खरदूषण वध, सीताहरण और कबन्ध-विनाश, शबरी, सुग्रीव आदि की भेट तथा सीतान्वेषण के प्रयत्नों का वर्णन है। चौथे सर्ग में फिर राम-जन्म, अवध में तत्सम्बन्धी महोत्सव, राम के बाल-चरित, जनकपुर-गमन तथा धनुर्भङ्ग का विवरण है। पाँचवे सर्ग में कथा का सूत्र तीसरे सर्ग की कथा से पुनः जुड़ता है। उसमें हनुमान के कार्यों—समुद्रोल्लङ्घन, जानकी-मिलन, अशोक-वाटिका-विनाश और लङ्का-दहन—की चर्चा के पश्चात् समुद्र-सन्तरण, युद्ध और कुम्भकर्ण, रावण आदि के वध का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में राम का सीता से मिलन, अयोध्या-आगमन और राज्याधिरोहण वर्णित है। फिर कुछ ऐसी कथाओं का सङ्केत है जो 'मानस' में नहीं मिलतीं—यथा, ब्राह्मण के मृत पुत्र का जीवन-दान तथा वक-उलूक का झगड़ा और यती-श्वान का संवाद। अन्त में सीता के अपवाद, उनके परित्याग, अश्वमेध-यज्ञ, लवकुश-जन्म, उनके द्वारा राज-सभा में राम-गुण-गान, वाल्मीकि का सीता और लवकुश के साथ आगमन तथा सीता के पृथिवी-

प्रवेश का वर्णन है। सप्तम सर्ग में कुछ दोहों में विविध प्रसङ्गों का वर्णन हैं और कुछ में राम की महिमा का उल्लेख है।

पहले सर्ग में दशरथ के मृगया खेलते समय श्रवणकुमार के पिता अन्ध मुनि के शाप की चर्चा भी है। 'मानस' में इसका सङ्केत द्वितीय सोपान में हुआ है—'तापस अन्ध साप सुधि आई, कौसल्यहि सब कथा सुनाई।' इसी सर्ग में शतानन्द के द्वारा दशरथ को अयोध्या से बुलवाने का वर्णन है—'सतानन्द पठये जनक, दसरथ सहित समाज।' 'मानस' में दूतों के द्वारा जनक ने दशरथ को निमन्त्रित किया है। इसमें भी विवाह के अनन्तर जनकपुर से लौटते समय मार्ग में परशुराम के राम से मिलने और उन्हें अपना धनुष देने का वर्णन है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में राम-कथा के विभिन्न प्रसङ्गों का उपयोग शुभ अथवा अशुभ फल जानने के लिए किया गया है। इससे कथा के क्रम में 'मानस' से भेद है. कुछ कथाओं का अभाव है और बहुतेरे दोहों में कथा का सङ्केत भी नहीं है। इसके भी बहुत से दोहों में 'राम चरित मानस' की उक्तियों से सादृश्य है। यथा.

हरषि बिबुध बरषहिं सुमन. मङ्गल गान निसान।
जय जय रविकुल कमल रबि, मंगल मोद निधान।

इसमें 'मानस' के इस दोहे से कितना साम्य है—

जय धुनि बंदी बेद धुनि, मङ्गल गान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध. सुरतरु सुमन सुजान।

इसकी पदावली गठी हुई और प्रौढ रचना के लक्षणों से युक्त है। और इसमें अलङ्कृत शैली देखी जाती है। जैसे,

नीचे उद्धृत दोहे में अनुप्रास और परम्परित रूपक का सुन्दर सङ्कर है—

मन मलीन मानी महिप, कोक कोकनद वृन्द।
सुहृदय समाज चकोर चित, प्रमुदित परमानन्द॥

अन्य कृतियाँ

अब तक जिन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विचार किया गया है उनमें गोस्वामीजी के आदर्श और सिद्धान्त अवश्य दिखलायी पड़ते हैं, किन्तु मुख्य रूप से राम-कथा का ही विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप मे वर्णन मिलता है। किन्तु उनकी कुछ अन्य कृतियों में उनके धर्म नीति विषयक विचार ही पाये जाते हैं। ये हैं—वैराग्य सन्दीपिनी, दोहावली और विनय-पत्रिका।

१. वैराग्य सन्दीपिनी

इसमें दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दों में राम की वन्दना और महिमा के अतिरिक्त सन्त स्वभाव, सन्त महिमा तथा शान्ति का वर्णन है। इसमें कुल बासठ छन्द हैं। इसके कुछ दोहे ज्यों के त्यों अथवा थोड़े हेर-फेर के साथ दोहावली तथा रामाज्ञा प्रश्न में भी मिलते हैं। वे राम के सम्बन्ध में अपना विश्वास इस प्रकार प्रकट करते हैं—

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुन ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रबि-कुल-रबि राम॥
एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
राम रूप स्वाती जलद, चातक तुलसीदास॥

सन्त का लक्षण यहाँ भी प्रायः वही है जो 'मानस' में राम ने नारद तथा भरत से और काकभुशुण्डि ने गरुड से बतलाया है। गोस्वामीजी सन्तों के काम बतलाते हुए कहते हैं—

सील गहनि सब की सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिए यहि रहनि, सन्त जनन को काम॥

वे सन्त की विशेषता यह मानते हैं—'तन करि, मन करि, बचन करि, काहू दूषत नाहिं।' तभी वे मानते हैं कि 'तुलसी ऐसे सन्तजन, राम रूप जग माहिं।'

सन्त की महिमा अपार है यह वे इस प्रकार सूचित करते हैं—

महि पत्री करि सिन्धु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ॥

इसमें महिम्नस्तोत्र के इस श्लोक का सादृश्य है—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखालेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

गोस्वामीजी आत्मसुख की प्राप्ति के लिए बतलाते हैं कि

अहंवाद, मैं-तैं नहीं, दुष्टसङ्ग नहिं कोइ।
दुखते दुख नहिं ऊपजै, सुख ते सुख नहिं होइ॥
सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई सन्त सुजान।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान॥

सोइ ग्यानी सोइ गुनी जन, सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई, राग द्वेष की हानि॥

इस सैद्धन्तिक काव्य में भी कहीं कहीं अलङ्कृत पदावली का प्रयोग हुआ है। यथा, नीचे के दोहों में परम्परित रूपक के द्वारा सिद्धान्त कहे गये हैं—

तुलसी यह तनु खेत है, मन बच कर्म किसान।
पाप पुन्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान॥
तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रय ताप।
सान्ति होति जब सान्ति पद, पावै राम-प्रताप॥

२. दोहावली

यह मुक्तक रचना है। इसमें ५७३ छन्द हैं, जिनमें तेईस सोरठे और शेष दोहे हैं। इन दोहों और सोरठों में बहुत से मानस, वैराग्य-सन्दीपिनी और रामाज्ञा प्रश्न में भी मिलते हैं। इनमें गोस्वामीजी के राम-भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त और विश्वास विषयक विचार मिलते हैं। कुछ दोहों में भक्तों की रीति, राम-राज्य के रूप, राम-भक्ति के प्रभाव, एवं कवि के आत्म-परिचय के साथ ही श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता का भी परिचय मिलता है। कुछ दोहों से काशी तथा देश की तत्कालीन दशा की भी सूचना मिलती है। इस प्रकार यह गोस्वामीजी के दूसरे काव्यों में आये हुए विचारों के अतिरिक्त उनके फुटकर दोहों-सोरठों का संग्रह है। यह सङ्कलन किसी क्रम से नहीं किया गया। किसी भी विषय के दोहे-सोरठे एक ही स्थान में एक साथ नहीं

मिलते। इसमें कुछ दोहों से कवि के अन्यत्र अभिव्यक्त सिद्धान्तों और विचारों की पुष्टि होती है। इसलिए वे उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में काम आ सकते हैं। 'हनुमान बाहुक' में जिस 'रुद्रबीसी' की चर्चा है उसकी सूचना इसमें भी है—

अपनी बीसी आपु ही, पुरिहि लगाये हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की, कहौं बिस्व के नाथ॥

इसमें 'बाहुक' के सदृश ही गोस्वामीजी की बाहु-पीडा का वर्णन मिलता है और इसमें भी आलङ्कारिक ढङ्ग से उसका उल्लेख है। कैसे गठे हुए परम्परित रूपक हैं—

तुलसी तनु सर, सुख जलज, भुज रुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिए, कपि केसरी किसोर॥
भुजतरु कोटर रोग अहि, बरबस कियो प्रवेस।
बिहँगराज बाहन तुरत काढ़िय, मिटइ कलेस॥
बाहु बिटप सुख बिहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिए, बेगि दीन हित लागि॥

'दोहावली' में गोस्वामीजी ने चातक और मीन-प्रेम के कुछ अनूठे दोहे लिखकर उनके द्वारा अपने राम-प्रेम की अनन्यता की सूचना दी है। इन दोहों में प्रेम का वह रूप अङ्कित है जिसमें प्रेम करने वाला प्रेम करना ही अपना धर्म समझता है, उसका बदला नहीं चाहता और न यह ही सोचता है कि मेरे प्रेम का प्रियतम पर क्या प्रभाव पड़ेगा। ऐसा उच्च निष्काम प्रेम ही तुलसी का आदर्श था। चातक-प्रेम कैसा दिव्य है— यह इन दोहों में बड़े ही आकर्षक ढङ्ग से वर्णित है।

उसके कुछ चित्र देखिए। उसकी अनन्यता कैसी है—

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर?

उसका सन्तोष कैसा अनुपम है—

तुलसी चातक माँगनो, एक सबै घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि॥

नहीं, नहीं, चातक एक बूँद भी नहीं लेता—

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि॥

इसी लिए तो

नहिं जाचत, नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि, को बारिद बिन देइ?

चातक अपने अनन्य-व्रत का निर्वाह अन्त समय तक कैसे करता है—यह भी गोस्वामीजी ने दिखलाया है। उसके लिए मोक्षप्रद गङ्गाजल का वह महत्त्व नहीं जो स्वातिजल का है। तभी

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच॥

चातक दूसरा जल स्वतः तो छूता ही नहीं, यदि उसके अण्डे का छिलका भूल से उस पर पड़ जाता है तो उसे भी निकालकर फेंक देता है। फिर उसे निकालता है पङ्ख से, चोंच से नहीं। कहीं धोखे से उस जल में चोंच लग जाय तो? अनन्य व्रत न भङ्ग हो जाय—

अण्ड फोरि कियो चेटुवा, तुष पर्यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर, डार्यो बाहिर बारि ॥

वह अपने इस प्रेम को रिक्थ के रूप में अपनी सन्तति को दे जाता है—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बार ही बार।
तात न तर्पन कीजिए, बिना बारिधर बारि ॥

इसी से तुलसीदासजी उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरेहि।
सुरसरिहू को बारि, मरत न माँगेउ अरध जल ॥

वे तो इसके आगे बढ़कर यहाँ तक कह देते हैं कि

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाचक बारह मास ॥

इन काव्यों में कथा के नये प्रकरण—उनका औचित्य

ऊपर उल्लिखित काव्यों में रामचरित का ही वर्णन होने से कुछ लोगों को इनमें पिष्टोषण जान पड़ता है। वे समझते हैं कि गोस्वामीजी जैसे राम का नाम जपने में नहीं थकते थे वैसे ही उनका गुणानुबाद करने में भी थकान का नहीं, आनन्द का अनुभव करते थे। ठीक भी है, 'और नशा सब चढ़ि चढ़ि उतरैं, राम-नशा दिन होत सवाई।' कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि गोस्वामीजी ने विविध वर्गों, रुचियों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध छन्दों और शैलियों में राम-कथा का गान किया है। इस प्रकार उन्होंने तत्कालीन सभी प्रचलित काव्य-पद्धतियों का अवलम्बन कर, उनमें अपना असाधारण अधिकार तो प्रदर्शित किया ही,

उनके आस विविध रुचि वाले लोगों के मन को लुभाने के लिए राम-कथा को भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत किया। यह भी ठीक हो सकता है। गोस्वामीजी ने 'मानस' में कहा है और अपनी रचनाओं में दिखला भी दिया है कि कवित्व प्रदर्शन मुझे इष्ट नहीं। इसी लिए उन्होंने केशवदास की 'रामचन्द्रिका' के समान अपने किसी भी काव्य में पिङ्गल, अलङ्कार और काव्य के विविध उपादानों का पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं किया। उन्होंने रस परिपाक का ध्यान रखा है। इसी से प्रत्येक काव्य में छन्द विशेष का मुख्यतया और उसके सहायक रूप में कुछ अन्य छन्दों का प्रयोग करके रचना का प्रभाव स्थायी रूप से जमाने में असाधारण सफलता प्राप्त की है। यह सब होते हुए भी विविध रामायणों की रचना का प्रयोजन जानने की आवश्यकता बनी रहती है। अन्य काव्यों में रामचरितमानस से राम सम्बन्धी कथानक के साम्य और वैषम्य का सङ्केत यथा स्थान किया जा चुका है और यह भी बतलाया गया है कि किस-किस काव्य में कौन कौन से प्रसङ्ग विशेष रूप से दर्शनीय हैं। उन्हें अवलोकन करने से यह विदित होता है कि रामचरित होने के कारण कथानक में एकरूपता होते हुए भी सर्वत्र कुछ विशेषताएं हैं। जान पड़ता है गोस्वामीजी को जनकपुर और वन-पथ की नारियों के भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त ही प्रिय थी। इसी से उन्होंने मानस, कवितावली तथा गीतावली में एक-सी तन्मयता के साथ इनकी भाव-धारा में अवगाहन कराया है। परन्तु अन्य सभी प्रकरणों की सब काव्यों में

एक-सी स्थिति नहीं है। 'मानस' के प्रबन्ध में कुछ बातों का बहुत बढ़ाकर वर्णन करना उचित न था, और न ऐसा करने के लिए उसमें यथेष्ट स्थान ही था। इसी से उन विषयों के यथेच्छ वर्णन के लिए गोस्वामीजी ने अलग-अलग क्षेत्र चुने। उनके चुनाव के समय कवि ने अपनी सुरुचि हाथ से कहीं और कभी नहीं जाने दी। उन्होंने केवल मार्मिक विषयों को ही चुना है। 'रामचरित मानस' में राम की बाल-लीलाओं का वर्णन बहुत ही कम है। यह कमी 'गीतावली' में पूरी हुई। यद्यपि 'कवितावली' में भी राम के शैशव के कुछ मनोहारी चित्र हैं, तथापि 'गीतावली' में उन चित्रों की अनेकरूपता मिलती है और उनकी क्रीड़ाओं और भावनाओं के ब्योरेवार सरस वर्णन हैं। इसी प्रकार 'मानस' में लङ्कादहन का बहुत विस्तार नहीं है। वह 'कविता-वली' में मिलता है। इस घटना से लङ्का पर हनुमान और उनके व्याज से राम के आतङ्क की जो मूर्ति 'कवितावली' में प्रतिष्ठित हुई है वह काव्य-क्षेत्र में अनुपम है। इसी प्रकार 'मानस' में राज्याधिरोहण के अनन्तर राम के राज्य का वर्णन तो है, किन्तु उसमें उनके और उनके परिवार के जीवन की झलक मात्र मिलती है। 'गीतावली' में इस कमी की पूर्ति हुई है। ऐसे ही 'कवितावली' के उत्तर काण्ड में कवि के राम-सम्बन्धी सिद्धान्त और विचारों का स्पष्ट और विस्तृत परिचय मिलता है, जो 'मानस' में प्रकारान्तर से प्रकट हुआ है। 'बरवै रामा-यण' में छोटे छोटे प्रकरणों के बीच सीता के सौन्दर्य, मनोभाव आदि की जो झलक दिखलायी पड़ती है वह भी 'मानस' में नहीं

उन्होंने अपना अभिप्राय अपनी सखी के द्वारा ब्रह्मचारी से व्यक्त किया और अपनी शालीनता का परिचय दिया। ब्रह्मचारी के अपनी सी ही कहते रहने के कारण पार्वती ने सखी से यहाँ तक कह दिया कि इस बकवादी वटु को विदा कर दो। पार्वती के अविचल प्रेम को देखकर ब्रह्मचारी अपने वास्तविक शिव रूप में प्रकट हुए। पार्वती धन्य हुईं। शिव ने उन्हें अङ्गीकार किया। किन्तु पार्वती ने सखी के द्वारा पिता की अधीनता सूचित की। इसके अनन्तर वहाँ से विदा होकर शिव ने सप्तर्षियों को भेज कर हिमाचल से और अरुन्धती के द्वारा मैना से पार्वती के साथ विवाह का प्रसंग चलाने की व्यवस्था की। 'पार्वती मङ्गल' में हिमाचल के यहाँ बारात पहुँचने पर शिव के विकट वेश त्याग कर 'सतकोटि मनोज मनोहर' रूप में प्रकट होने का उल्लेख है। ऐसा 'मानस' में नहीं लिखा गया। शेष कथा में 'मानस' से कोई भेद नहीं है। इसमें विवाह के अनन्तर शिव के उमा सहित कैलाश जाने का उल्लेख करके कथा समाप्त हुई है। इस काव्य में भी 'मानस' की अनेक उक्तियों से सादृश्य है यथा, इसका 'कबित रीति नहिं जानउँ, कबि न कहावउँ' 'मानस' के प्रसिद्ध 'कबि न होउँ, नहिं चतुर कहावौं' तथा 'कबित बिबेक एक नहिं मोरे' का अनुगामी है। वैसे तो बहुत से उद्धरणों में यह साम्य सूचित किया जा सकता है, किन्तु यहाँ दो-चार से ही काम चलाया जायगा। जैसे,

'जनम दरिद्र महामनि पावइ—पार्वती मङ्गल

जनम रङ्क जनु पारस पावा—मानस

विबुध बोलि हरि कहेउ निकट पुर आयउ,
आपन आपन साज सबहिं बिलगायउ।
बर अनुहरति बरात बनी हरि हँसि कहा,
सुनि हिय हँसत महेस, केलि कौतुक महा। पार्वतीमङ्गल

विष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज।
बर अनुहारि बरात न भाई, हँसी करैहहु परपुर जाई।
मन ही मन महेस मुसुकाहीं, हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं।
—मानस

धारि जनमु जग जाय, सखी कहि सोचहिं—पार्वतीमङ्गल
कत बिधि सृजी नारि जग माहीं—मानस।

काव्य-सौष्ठव

पार्वती मङ्गल 'कल्यान काज उछाह ब्याह' में 'सनेह सहित' गाने के लिए रचा गया है। इससे इसमें अवसर के अनुरूप मङ्गल विधान की सारी सामग्री विद्यमान है। इसमें भावों की व्यञ्जना भी बड़े कोमल ढङ्ग से हुई है और उक्तियों का सौंदर्य भी यथेष्ट है। पार्वती को शिव के प्रेम से विचलित करने में असफल ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में कवि की उक्ति है—

बटु करि कोटि कुतर्क जथा रुचि बोलइ,
अचलसुता मन अचल बयारि कि डोलइ?
साँच सनेह साँचि रुचि जो हठ फेरइ,
सावन सरित सिन्धु रुख सूप कि घेरइ?

मनि बिनु फनि जलहीन मीन तनु त्यागइ,
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ ?

पार्वती ने व्यर्थ बातें करने में समय नष्ट न करके ब्रह्मचारी को तुरन्त विदा कर देना चाहा। इससे उन्होंने सखी के द्वारा उनसे कहलाया—

कहुँ तिय होहिं सयान सुनहिं सिख राउरि,
बौरेहि के अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि।

इस काव्य में कवि ने दृश्य वर्णन का भी यथेष्ट ध्यान रखा है। हिमवान के नगर का चित्रण थोड़े में, किन्तु अच्छा हुआ है। इसी प्रकार शिव की बारात का दृश्य भी दर्शनीय है। वर्णन सर्वत्र गठा हुआ है। अलङ्कृत पदावली का प्रयोग अकृत्रिम रूप से हुआ है। वर्णन में अलङ्कार आप से आते और उसकी शोभा बढ़ाते हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए। पार्वती का विदा के समय की स्थिति पर कैसी बढ़िया 'उत्प्रेक्षा' है—

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहिं,
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहिं।

इसी प्रकार मङ्गल-हार का सुन्दर रूपक देखते ही बनता है—

प्रेम-पाट पट-डोरि गौरि-हर-गुन-मनि,
मंगल-हार रचेउ कबि-मति-मृगलोचनि।
मृग नयनि बिधुबदनी रचेउ मनि मञ्जु मंगल-हार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो।

५. श्रीकृष्ण-गीतावली

परिचय

यह व्रजभाषा में रचित इकसठ पदों का आख्यान काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के अतिरिक्त गोपियों के उपालम्भ और उसके फलस्वरूप यशोदा के कोप तथा ऊखल-बन्धन, इन्द्र के कोप, गोवर्द्धन उठाने, गोपियों के प्रेम और विरह, गोपी-उद्धव संवाद और भ्रमरगीत तथा अन्त में द्रौपदी के चीरहरण सम्बन्धी वर्णन हैं। बाल-लीला तथा गोपी-उद्धव के वार्तालाप का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार-पूर्वक चित्रण है। यद्यपि इन प्रसङ्गों पर श्रीकृष्ण के विषय में कविता करने वाले तुलसी के सम-सामयिक और परवर्ती व्रजभाषा के अन्य कवियों ने भी प्रचुर परिमाण में रचना की है फिर भी गोस्वामीजी ने यहाँ भी अपना स्वतन्त्र स्थान बना लिया है। उन्होंने 'प्रेमबस्य मनुज-रूपधारी' प्रभु के 'लीला-रस' का आस्वादन कराया है। उन लीलाओं को देखकर व्रजवासी मग्न हो जाते थे और देवता उन लोगों से ईर्ष्या करते थे कि हमें यह सुख अलभ्य है—'तुलसी निरखि हरषत बरषत फूल भूरि भागी व्रजबासी बिबुध सिहात।' इतना ही नहीं, उन्हें देखने के लिए आकाश में देवता उपस्थित होते और प्रभु पर फूल बरसाकर अपनी मुग्धता प्रकट करते थे—'अम्बर अमर हरषत बरषत फूल।' 'गोप-गोसुत वल्लभ' 'अपहरन तुलसीदास त्रास' हैं। इस प्रकार उनकी लीलाओं के गान का वही उद्देश्य जान पड़ता है जो राम की लीलाओं के गान का है।

कवित्व

इस काव्य में कवि ने श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ मार्मिक प्रकरणों को ही लिया है यह इसमें वर्णित आख्यानों से स्पष्ट है। श्रीकृष्ण और यशोदा का यह वार्तालाप कितना स्वाभाविक है—

'छोटी-छोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू दे री मैया'
'ले कन्हैया' 'सो कब ?' 'अबहिं तात।'
'सिगरियै हौंही खैहौं, बलदाऊ को न दैहौं।',
सो क्यों भट्ठ तेरो कहा कहि इत उत जात।

और इच्छानुसार चुपरी मीसी रोटी पा जाने पर वे

'कूदि-कूदि किलकि-किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात।'

श्रीकृष्ण के उत्पातों से ऊब कर गोपी उलाहना देती हुई यशोदा से कहती है—

तोहिं स्याम की सपथ जसोदा आइ देखु गृह मेरे।
जैसी हाल करी यहिं ढोटा छोटे निपट अनेरे।
गोरस हानि सहौं न कहौं कछु यहिं ब्रजबास बसेरे।
दिन प्रति भाजन कौन बेसाहै ? घर निधि काहू केरे ?
किये निहारो हँसत, खिझे तें डाटत नयन तरेरे।
अब ही तें ये सिखे कहाँ धौं चरित ललित सुत तेरे।
बैठो सकुचि साधु भयो चाहत मातु बदन तन हेरे।
तुलसिदास प्रभु कहौं ते बातैं जे कहि भजे सबेरे।

गोपी खीझती है कि दूध-दही तो अपने घर होता है। उसकी हानि सही जा सकती है। परन्तु यह कन्हैया बरतन जो

फोड़ डालता है। क्या घर में कहीं का भाण्डार रखा है, जिससे नित्य बरतन मोल लिये जायँ ? इसकी एक बात और बुरी लगती है। यह जो कुछ करता है उसे चुपचाप देखा करो तो हँसता है, और इस पर बिगड़ो तो आँखें तरेर कर धमकाता है। चोरी और सीनाजोरी ! और अब देखो, यशोदा, तुम्हारे सामने आकर सकुचाया हुआ बैठा है ! बड़ा साधु हो गया है मानो। कन्हैया, कह दूँ वे बातें जो तुम आज सबेरे कहकर भाग आये थे ? इस उपालम्भ में कितनी स्वाभाविकता है !

इसी प्रकार इसमें गोपियों की खीझ के कितने ही प्रत्यक्ष चित्र हैं और श्रीकृष्ण की ऐसी उक्तियाँ हैं जिनसे उनके चापल्य पर मुग्ध हो चुप रह जाना पड़ता है। कभी वे कहते हैं—

अबहिं उरहनो दै गई, बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया, तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की, सकुच बेंचि सी खाई।

कभी यशोदा ऐसी अनूठी युक्तियों के द्वारा श्रीकृष्ण की यह टेंव छुड़ाना चाहती हैं—

छाँड़ो मेरे ललित ललन लरिकाई।
ऐहैं सुन देखवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहै नई दुलहिया सुहाई।

यह प्रस्ताव सुनते ही—

मातु कह्यो करि कहत बोलि दै, भई बड़ि बार, कालि तौ न आई।

इसके आगे का दृश्य देखिए—

जब सोइबो तात यों हाँ कहि, नयन मीचि रहे पौढ़ि कन्हाई।
उठि कह्यो भोर भयो, झँगुली दै, मुदित महरि लखि आतुरताई।

'बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु सकुचि लगे जननी उर धाई।'

मघवा का मान-मर्दन करने के पश्चात् श्रीकृष्ण की गोप-कुमारों के साथ उमङ्गभरी यह क्रीडा भी गोस्वामीजी ने देखी थी—

टेरि कान्ह गोबर्धन चढ़ि गैया।
मथि मथि पियो बारि चारिक में भूख न जाति अघाति न घैया।
सैल सिखर चढ़ि चितै चतिक चित अति हित बचन कह्यो बलभैया।
बाँधि लकुट पट फेरि बोलाई सुनि कल बेनु धेनु धुकि धैया।
बलदाऊ देखियत दूरि ते आवनि छाक पठाई मेरी मैया।
किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों. कूदत कपि कुरंग की नैया।
खेलत खात परसपर डहकत. छीनत कहत करत रोगदैया।

गोपियों और उद्धव के वार्तालाप में बहुत सी सुन्दर उक्तियाँ है। यथा. 'जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि फिरि कहा कहत है?'

इस प्रसङ्ग में गोस्वामीजी ने भी योग की असारता और प्रेम की महत्ता का उसी प्रकार प्रदर्शन किया है जिस प्रकार सूर आदि व्रज के कवियों ने। इससे विषय की दृष्टि से इस गोपी-उद्धव संवाद में उन लोगों की रचनाओं से सादृश्य है, परन्तु उक्तियों में गोस्वामीजी की कला तो है ही। गोपी का यह तर्क सुनिए—

ग्यान कृपान समान लगत उर, बिहरत छिन छिन होत निनारे।
अवध जरा जोरति हठि पुनि पुनि, याते तनु रहत सहत दुख भारे।

जैसे जरा राक्षसी ने कटे हुए शरीर को जोड़कर जरासन्ध को जिला दिया था वैसे ही श्रीकृष्ण के आगमन की अवधि ही

हमारे उस शरीर को जिला रही है जो तुम्हारे ज्ञान के कृपाण से टुकड़े-टुकड़े हो रहा है, हे उद्धव !

एक और आलङ्कारिक वर्णन देखिए। गोपी कहती है—

मो को अब नयन भये रिपु माई।
ग्यान परसु दै मधुप पठायो बिरह बेलि कैसेहु कठिनाई।
सो थाक्यो बरहयों एकहि तक देखत इनकी सहज सिंचाई।

खेत में पानी ले जाने वाली जो नाली (बरहा) लगातार (एकहि तक) पानी सींचती है वह भी इन नेत्रों की निरन्तर सिंचाई के सामने लज्जित हो जाती है। विरह की लता को यह ज्ञान का परशु काटना चाहता है, पर ये नेत्र उसे लगातार अपने जल से सींच सींचकर लहलही रखते हैं।

इसी प्रकार की चातुर्यपूर्ण मनोहर उक्तियां से पूरित यह काव्य श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में रचे गये श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी ,में रखा जाता है। इसमें वर्णन और भाव-सौन्दर्य देखकर कहना पड़ता है कि उपास्य-भेद की सङ्कुचित परिधि के भीतर न रहकर गोस्वामीजी ने अपने विशाल हृदय में सीता-राम को प्रतिष्ठित करके सचमुच 'सीय राम मय सब जग' जाना था और उन्होंने यह चरितार्थ कर दिखाया था कि जो 'निज प्रभु मय देखहिं जगत' वे 'का सन करहिं बिरोध।' वे किसी से विरोध ही नहीं करते, प्रत्युत सब को अपने प्रभु के रङ्ग में हा रंगा देखते हैं और तभी उनको जो रङ्ग अपनी कृतियों में देते हैं वह सदा चोखा उतरता है।

गोस्वामीजी का महत्त्व

गोस्वामी तुलसीदास के विषय में अब तक जो लिखा गया है उससे यह तो स्पष्ट ही है कि वे श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपनी भक्ति-साधना के क्रम में ही अपने काव्यों की रचना की थी। इसी से उनकी रचनाओं में भक्ति ही प्रधान है। अपने इष्टदेव के प्रति पूर्ण निष्ठा होते हुए भी उनकी भक्ति अन्य साम्प्रदायिक उपासकों के समान सङ्कुचित न थी। उसमें किसी से द्वेष भी न था। वह परम उदार थी। उसमें ज्ञान और कर्म का विरोध न था। प्रयागराज में मकर-स्नान के लिए आगत मुनियों और ऋषियों का कार्यक्रम बतलाते हुए गोस्वामीजी ने 'मानस' में लिखा है कि वे

मज्जहिं प्रात समेत उछाहा, कहहिं परस्पर हरि गुन गाहा।
ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि, बरनहिं तत्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ग्यान बिराग॥

इसी में मानसकार के विचारानुसार धर्म का रूप निहित है। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का समन्वय करके धर्म के लोक-व्यवहारपयोगी पक्ष की प्रतिष्ठा की थी। उनकी भक्ति एकान्त साधना के द्वारा जीव के उद्धार का उपाय मात्र नहीं, वह विषम परिस्थितियों के बीच होकर जीवन की सफल

यात्रा के लिए आवश्यक आचरण की प्राप्ति में सहायक भी है। उन्होंने वसिष्ठजी के द्वारा श्रीराम के प्रति चित्रकूट में कहलाया था कि 'करब साधुमत लोकमत, नृप नय, निगम निचोर।' उनकी कृतियों में वर्णाश्रम धर्म का उत्कृष्ट एवं व्यावहारिक रूप दिखलायी पड़ता है, भक्ति-मार्ग की अनन्य साधना प्रत्यक्ष होती है, राजधर्म का लोक-कल्याणकारी दर्शन होता है और साथ ही वेद-शास्त्र निरूपित सिद्धान्तों का सुबोध रीति से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार उनमें साधुधर्म, लोक धर्म, राजनीति और वेदमत का अपूर्व समन्वय हुआ है। उन्होंने जन-सुलभ सगुणोपासना को निर्गुणोपासना से अभिन्न माना है। वे कहते हैं कि 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा।' इस प्रकार दोनों उपासना-पद्धतियों में दिखलायी पड़ने वाला भेद-भाव दूर करते हुए उन्होंने भक्ति का मङ्गलमय विधान किया। बहुदेववाद की असारता प्रदर्शित करते हुए एकदेवोपासना की प्रतिष्ठा की। शिव और राम की अन्योन्याश्रित भक्ति का प्रतिपादन कर शैव और वैष्णव मतों के भेद की जड़ पर कुठाराघात किया। व्यक्तिगत साधना का मार्ग दिखलाने के साथ ही समष्टि के लिए उपयुक्त धर्म का पथ उद्घाटित किया। उन्होंने ऐसे धार्मिक विश्वास पल्लवित किये जो श्रुति-सम्मत थे। लोक और वेद दोनों का समन्वय करके उन्होंने धर्म को व्यवहारोपयोगी बनाया। इस प्रकार तत्कालीन मतमतान्तरों और सम्प्रदायों के अनिष्ट प्रभाव से समाज को विशृङ्खल होने से बचाया। उन्होंने अपने 'मानस' में वेदों, शास्त्रों, पुराणों आदि

के सिद्धान्तों का उल्लेख करके उसे भारतीय धर्म और नीति का माम्य ग्रन्थ बना दिया। आज उसी के द्वारा लोग अपनी पुरातन संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ हैं।

भारतीय विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा करने के साथ ही गोस्वामीजी ने उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि भी की। उन्होंने कविता का आदर्श ही उपस्थित कर दिया। विविध प्रकार की प्रचलित काव्य-शैलियों का समान अधिकार से प्रयोग करके उन्होंने कविता का शृङ्गार किया। काव्योचित अनेक छन्दों में रचना करके उनका प्रयोग-सौष्ठव प्रदर्शित किया। अपने समय की मान्य काव्य-भाषाओं अर्थात् व्रज और अवधी का एक सी गति के साथ व्यवहार करके उन पर अपना असाधारण प्रभुत्व दिखलाया। अवधी के सहज माधुर्य की रक्षा करते हुए उस पर अपने पाण्डित्य से संस्कृत का पानी चढ़ा कर उसे चमका दिया। इस प्रकार उसे प्रान्तीय परिधि से उठाकर देश व्याप्त किया; सीमित क्षेत्र और समुदाय की बोली से साहित्य की सर्वमान्य भाषा बनाया। उन्होंने संस्कृत की पदावली के बीच बोलचाल की शब्दावली को प्रतिष्ठित किया और उन्हें साहित्य के व्यवहार में चालू किया। इस प्रकार अपनी रचना को सामान्य और विशिष्ट दोनों वर्गों के जन समुदाय के लिए उपयोगी बनाया। उन्होंने प्रचलित विदेशी शब्दों को अपनाकर तथा उनका संस्कार कर भाषा की पाचन शक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। जैसे विचारों के क्षेत्र में, वैसे ही भाषा के क्षेत्र में भी गोस्वामी जी ने अपनी विशाल समन्वय-शक्ति का परिचय दिया।

वे काव्य-कला में भी निष्णात थे। अलङ्कृत काव्य का कैसा रूप होना चाहिए यह कोई उनसे सीख ले। उन्होंने काव्य के बहिरङ्ग के साथ ही उसके अन्तरङ्ग का भी मनोहर रूप अङ्कित किया। उन्हें मानव जीवन का व्यापक ज्ञान और अनुभव था। इसी से उनके सर्वाङ्ग पूर्ण काव्य जीवन के इतने विविध प्रकार के चित्रों से युक्त हैं, और इसी से उनमें उसके मार्मिक स्थलों का इतना स्वाभाविक और प्रभावशाली वर्णन है। वे मानव जीवन के साथ ही प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में प्रवीण थे। उसके संश्लिष्ट चित्र देखते ही बनते हैं।

धर्म के प्रतिष्ठापक और काव्य के स्रष्टा तुलसीदास ने जो कुछ किया अपने मन के सुख और विश्राम के लिए, किन्तु उनकी वाणी सुनकर लोक के मन को शान्ति मिली। इसी से वह लोक वाणी होकर लोक-कण्ठहार बन गयी।, लोक-व्याप्त हो गयी। आत्म-कल्याण के साधक उसके सहारे आत्मोन्नति के मार्ग में बढ़े। धर्म के तत्त्व के जिज्ञासुओं को उसमें सनातन वैदिक धर्म का साक्षात्कार हुआ। समाज की व्यवस्था बाँधने वालों को उसमें व्यष्टि और समष्टि सब की दृष्टि से अनुकरणीय आदर्श मिले। काव्य के रसिकों को उसके रस-सिक्त वर्णनों से ब्रह्मानन्द-सहोदर की प्राप्ति हुई। इस प्रकार लोक के सभी वर्गों के लिए उसमें अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति और अपनी-अपनी रुचि की तृप्ति करने वाली सामग्री मिली। जो उसमें जितना डूबा उतना ही मग्न हुआ, उतना ही श्रेष्ठ तत्त्व लेकर सुखी हुआ।

इस प्रकार उनकी वाणी से लोक-कल्याण का सच्चा विधान हुआ। उन्होंने कविता का आदर्श भी यही बतलाया है। वे कहते हैं—

कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।

अर्थात् जैसे गङ्गाजी से सबका कल्याण होता है, वैसे ही कीर्ति, कविता और सम्पदा से सब का हित होना चाहिए। जिस कविता से लोक-हित न हो वह किसी काम की नहीं। उनकी दी हुई इस कसौटी पर उनके काव्य को कसने पर यह सर्वथा खरा निकलता है। उससे लोक-मङ्गल हुआ है, हो रहा है और होगा।

उनके समय के समाज ने आत्म-गौरव खो दिया था और आत्म-स्वरूप भुला दिया था। उसे गोस्वामीजी की रचनाओं में उनकी उपलब्धि हुई। उनकी कृतियों ने उन दिनों फैले हुए कुशासन-चक्र को काटकर उस क्षणिक माया-अन्धकार को दूर किया और लोगों को सच्चे ज्ञान का आलोक प्रदान किया। इतना ही नहीं। उन्होंने भग्न-हृदय जन-समाज को आत्म-बल दिया और निराशापूर्ण जीवन के लिए आशा से उत्फुल्ल जीवन का उदात्त रूप रखा, जिससे वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सङ्कटों से सामना करने में समर्थ हुआ।